सांख्य-योग-दर्शन

लेखक

महामहोपाध्याय डा० श्रीउमेशमिश्र,

एम० ए०, डी० लिट्०

तीरभुक्ति-प्रकाशन

१, सर पी० सी० बनर्जी रोड, इलाहाबाद—२

प्रकाशक
वीरभुक्ति प्रकाशन
प्रयाग—२

प्रथम संस्करण
१९५८ ई०

मूल्य
चौदह रुपये
रु०१४·००

मुद्रक
नन्दन एवं हिन्दुस्तान प्रेस,
प्रयाग

देशो यस्य विदेहशासितमही विन्ही पुनर्जन्मभूः
क्रीडाभूमिवरा शुभा गजहरा ख्याता विपश्चित्सु या ।
काशी यस्य बभूव पाठसदनं श्रीतीर्थराजस्तथा
यस्य क्षेत्रमिहास्ति ज्ञानजनकं शास्त्रेषु लोके पुनः ॥

तातो यस्य बभूव पण्डितवरः सत्तर्कचूडामणिः
ख्यातः श्रीजयदेवनामकसुधीः सूतेति यस्य प्रसूः ।
गोपीनाथगुरोः कृपालववशात् लब्धप्रतिष्ठश्च यः
तस्य श्रीमदुमेशमिश्रकृतिनो ग्रन्थोऽस्त्वयं शान्तिदः ॥

यस्य प्रसादाच्छास्त्रेषु ज्ञानं लब्धं कथञ्चन ।
गोपीनाथाय गुरवे तस्मै ग्रन्थः समर्प्यते ॥

आमुख

यह सभी को मालूम है कि दर्शनशास्त्र बहुत कठिन है। यह शास्त्र केवल पढ़ने से नहीं समझा जा सकता, यह तो अनुभव करने का विषय है। इसीलिए श्रुति में कहा भी गया है—"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च"। जैसा हमने अपने भारतीय दर्शन तथा अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट किया है, सभी दर्शन आत्मा के स्वरूप को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से साक्षात्कार करने के साधन हैं। इसलिए इन दर्शनों में पूर्ण सामञ्जस्य रहते हुए भी भिन्न-भिन्न स्तर के होने के कारण ये एक दूसरे से भिन्न भी हैं। समन्वय की दृष्टि के बिना दर्शनों का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। समन्वय की दृष्टि से जिज्ञासु आत्मा की खोज में जब अग्रसर होता है तब उसे दर्शनों के यथार्थ स्वरूप का आभास मिलता है और आत्मा का वास्तविक स्वरूप का क्रमशः ज्ञान होने लगता है।

न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा का क्षेत्र दार्शनिक दृष्टि से साधारण लोगों के व्यवहार के स्तर का है। यह एक प्रकार से लौकिक जगत् से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसीलिए इन दर्शनों के तत्त्व वस्तुतः लौकिक हैं। किन्तु सांख्य-योग-दर्शन का क्षेत्र अलौकिक या मनोवैज्ञानिक है। इसके तत्त्व बौद्धिक तत्त्व हैं। न्याय-वैशेषिक के दृष्टि से सांख्य-योग के तत्त्व को कोई नहीं समझ सकता। प्रमेयों के वैचित्र्य होने के कारण इसके प्रमाणों का भी स्वरूप विचित्र है। न्याय-वैशेषिक के प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण से

सर्वथा भिन्न लक्षण सांख्य-योग का है। यह खेद का विषय है कि संस्कृत के विद्वानों ने अनुसन्धानात्मकदृष्टि से इन तत्त्वों का विचार नहीं किया। अत एव आज भी सांख्य के तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान अन्धकाराच्छन्न है।

अनेक वर्षों के निरवच्छिन्न अध्ययन तथा गुरु की कृपा से सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञान मैंने प्राप्त किया है उसके सारांश को विद्वानों के सम्मुख रखने का साहस मैंने आज किया है। इस कार्य में केवल तत्त्वजिज्ञासु के ही दृष्टि से, न कि किसी प्रकार की आक्षेप दृष्टि से, कतिपय पूज्य विद्वानों के मत से भिन्न विचार मैंने प्रकाशित किये हैं। इस बात से यदि किसी श्रद्धालु को खेद हो तो मैं उनसे करबद्ध क्षमा चाहता हूँ।

सांख्यदर्शन की बातें योगदर्शन के साहाय्य के बिना विद्यार्थियों को पूर्णरूप से समझ में नहीं आ सकती। अत एव ग्रन्थोद्धरणपूर्वक योग से यहाँ साहाय्य लिया गया है, जिससे मनोवैज्ञानिक छात्रों को मूल ग्रन्थों का भी परिचय प्राप्त हो सके।

इस ग्रन्थ के विचारों में जो कुछ परिशुद्ध विवेचन है वह तो मुझे अपने विद्यागुरु काशीस्थ महामहोपाध्याय डाक्टर पण्डित श्री गोपीनाथकविराज की कृपा से प्राप्त है। जो अशुद्धियाँ हैं वे तो मेरे ज्ञान के दोष से हुई हैं और उनका उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष विद्वद्वर श्रीराजनारायणजी का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ जिनकी प्रेरणा तथा अनुरोध से मैंने यह पुस्तिका लिखी है।

अन्त में इतना कह देना आवश्यक है कि रुग्णावस्था में यह ग्रन्थ लिखा गया और इसके पूर्वरूप के प्रारम्भिक अंश को बालकों ने देखा, अत एव इसमें छापे की बहुत सी अशुद्धियाँ रह

गई हैं जिन्हें अग्रिम संस्करण में ही मैं शोधन कर सकूँगा। यही कारण था कि इसके ६४ पृष्ठ तो एक प्रेस में छपे हैं और अवशिष्ट दूसरे प्रेस में छपाना पड़ा।

इस रूप में भी यदि इस ग्रन्थ से पाठकों को सांख्ययोग के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाये तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा। शमिति।

'तीरभुक्ति'
प्रयाग—२,
दीपमालिका, सन् १३६६ साल (मिथिलाब्द)

श्रीउमेशमिश्र

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठभूमि

सांख्य-योग के तत्त्वों का विशेष विचार करने के पूर्व छात्रों के हित के लिए दर्शन का लक्ष्य और स्वरूप का निर्देश करना तथा दर्शन के क्षेत्र में सांख्य-योग के स्थान का निरूपण करना आवश्यक है।

'दर्शन' शब्द का अर्थ है 'जिसके द्वारा देखा जाय' अर्थात् 'दर्शन' उस साधना को कहते हैं जिसके द्वारा चरम लक्ष्य देखा जाय। भारतीय-दर्शन तथा जीवन का एक ही लक्ष्य है—सदा के लिए दुःख से छुटकारा पाना। दार्शनिक-विचार में आप्तवचन, तर्क तथा स्वानुभव इन तीनों के परस्पर सामञ्जस्य से ही हमें निर्णय करना चाहिए। इन्हीं को क्रमशः श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन कहते हैं। यह सभी का अपना साक्षात् अनुभव है कि जीवन दुःखमय है। जब से जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है उसी समय से, किसी न किसी अव्यक्तरूप में तथा कुछ समय के पश्चात् व्यक्तरूप में भी, जीव को अपनी इच्छा के प्रतिकूल भावनाओं का अनुभव होता है जिसके कारण वह मातृगर्भ में भी चञ्चल देखने में आता है। गर्भ से बाहर निकलने पर तो उसे प्रतिक्षण प्रतिकूल भावनाओं का सामना करना पड़ता ही है। अपनी इच्छा के प्रतिकूल भावनाओं के अनुभव ही को 'दुःख' कहते हैं। साथ ही साथ यह भी एक सत्य अनुभव है कि 'दुःख' किसी को भी प्रिय नहीं है और इसीलिए कोई भी दुःख को नहीं चाहता। अतएव संसार में प्रवेश करने के साथ-साथ जीव को दुःखों का अनुभव होने लगता है और साथ ही साथ उन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए जीव अपने सामर्थ्य के अनुसार चेष्टा करने लगता है। जब तक दुःखों से सदा के लिए सर्वथा छुटकारा जीव नहीं पाता, तब तक जीव चेष्टा करता ही रहता है। कर्म की गति बहुत गहन और विचित्र है। कर्म ही से संस्कार

और वासना बनती है। इन्हीं वासनाओं के भोग के लिए जीव को संसार में आना पड़ता है। बिना कर्म किये कोई भी जीव एक क्षण के लिए भी चैन नहीं रह सकता। यह श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥[1]

प्रकृति से उत्पन्न (सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों) गुणों के द्वारा विवश होकर सभी जीव 'कर्म' करते हैं, इसीलिए कोई भी जीव एक क्षण के लिए भी बिना कर्म किये हुए कभी भी नहीं रहता। ये ही कर्मसमूह पश्चात् वासना के रूप में अन्तःकरण में रह कर जीव को उन कर्मों के भोग के लिए ही इस संसार में उत्पन्न होने के लिए प्रेरणा करते हैं, और जब तक ये सभी वासनायें भोग के द्वारा नष्ट न हो जायें, चाहे कितने ही बार इसके लिये संसार में आना पड़े, तथा दुःख की चरम निवृत्ति न हो जाय, तब तक कर्म की गति चलती ही रहेगी। वासनाओं का सर्वथा नाश होते ही कर्म की गति का भी नाश हो जायगा और दुःख से सदा के लिए छुटकारा मिल जायगा एवं 'दर्शन' के चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी। जीव सदा के लिए जन्म और मरण से मुक्त हो जायगा। यही जीव का चरम लक्ष्य है, यही 'दर्शन' शास्त्र का परम तत्त्व है, जिसके स्वरूप के प्रतिपादन करने के लिए एवं जिस पद की साक्षात् अनुभूति के लिए भारतीय-दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि हमारे 'जीवन' तथा 'भारतीय-दर्शन' का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ये दोनों एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक ही मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक के समान हैं। इन दोनों की सत्ता एक ही उद्देश्य पर निर्भर है। उस

---

1. अध्याय ३, श्लोक ५।

परम तत्त्व का सैद्धान्तिक रूप 'दर्शन-शास्त्र' तथा व्यावहारिक रूप तो हमारा 'जीवन' ही है। दुःख के अव्यक्त अनुभव से आरम्भ कर उसके आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक नाश पर्यन्त जितने कार्य, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े, हम करते हैं, वे सब उपर्युक्त एकमात्र चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। इसीलिए सांख्य-दर्शन को आरम्भ करते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ'[1]

अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के दुःखों से आहत होने पर उन दुःखों के नाश के उपाय को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है।

अज्ञान तथा मिथ्या-ज्ञान के कारण दुःख होता है। अपनी इच्छा की प्रतिकूल-वेदना को 'दुःख' कहते हैं। अज्ञान अनादि है, इसलिए दुःख भी अनादि है। अज्ञान के नाश होने ही से दुःख का नाश होता है। दुःख है रजोगुण का परिणाम। रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण को सर्वथा छोड़कर, अकेले कभी नहीं रहता। इसलिए जहाँ गुण है, वहीं दुःख है। सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' में गुण है, और अज्ञान के कारण 'प्रकृति' अर्थात 'बुद्धितत्त्व' में चित्स्वरूप पुरुष के बिम्ब के आरोप होने से जड़रूप प्रकृति में चेतन पुरुष का तथा उलट कर चित्स्वरूप पुरुष में जड़ बुद्धि का आभास मालूम होता है। इसी कारण उदासीन पुरुष 'कर्त्ता' के समान तथा अचेतन बुद्धि 'चेतन' के समान मालूम होने लगता है। इसी परस्पर आरोप के कारण दुःख का अनुभव होता है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि निर्लिप्त उदासीन पुरुष में दुःख नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बुद्धितत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त जितने तत्त्व हैं उनसे परिणाम रूप में बने हुए जितने पदार्थ हैं सभी दुःख को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् शुद्ध चेतन को छोड़ अन्य

---

1. सांख्यकारिका, १।

सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मिका हैं अतएव दुःख देने वाली है। विचारके सौकर्य के लिए दुःख का तीन विभाग किया जाता है—आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी इन पांच भूतों से तथा भौतिकों के द्वारा जो दुःख होता है, उसे 'आधिभौतिक' दुःख कहते हैं। अन्तःकरणों के तथा बाह्य-करणों के जो अधिष्ठातृ देव हैं उनके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है उसे 'आधिदैविक' दुःख कहते हैं। पुरुष और बुद्धि के परस्पर आरोप से साक्षात् प्राप्त दुःख को 'आध्यात्मिक' दुःख कहते हैं।

संसार के लौकिक तथा वैदिक साधनों के अनुष्ठान के द्वारा दुःख की चरम निवृत्ति को न पाकर, इनके अतिरिक्त दूसरे किसी साधन के अभाव में, जिज्ञासु किसी ज्ञानी से पूछता है कि "महात्मन्! वह कौन सा उपाय है? वह कौनसी वस्तु है जिसके 'दर्शन' से अर्थात् साक्षात्कार से सब दिन के लिए दुःख से छुटकारा मिल जाता है?" ज्ञानी उसके उत्तर में कहता है—

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।'

अर्थात् अरे! आत्मा को देखो। (उसके देखने का उपाय है) श्रुतियों के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में सभी बातें अनेक बार सुनना। सुनी हुई बातों के ऊपर युक्तियों के द्वारा 'तर्क' करना[1]। श्रुति के द्वारा

---

1. पूर्व-जन्म या इस जन्म की साधना के कारण जिस किसी का अन्तःकरण भाग्यवश परिशुद्ध हो गया हो और उसे आप्तवाक्य में पूर्ण श्रद्धा हो, तो उसे उसी क्षण परम तत्त्व की प्राप्ति हो जायगी विलम्ब होने का तो कोई कारण ही नहीं है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा भी है—

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'। किन्तु ऐसे श्रद्धालु अत्यन्त विरल हैं। अतः श्रुति के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में सुनी हुई बातों को प्रमाणित करने के लिए 'मनन' और 'निदिध्यासन' की आवश्यकता होती है।

सुनी हुई बातों को सत्तर्कों से प्रमाणित करना चाहिए और जब 'श्रवण' एवं 'मनन' इन दोनों साधनों के द्वारा जिज्ञासु एक ही निर्णय पर पहुँचे, फिर भी उसे उस निर्णय पर तब तक भरोसा न करना चाहिए जब तक उस निर्णीत 'सत्य' का योग की साधनाओं के द्वारा साक्षात्कार न हो जाय। इस अन्तिम उपाय को 'निदिध्यासन' कहते हैं।

ज्ञानी के उपदेश में श्रद्धा रखते हुए दुःख से सर्वदा के लिए छुटकारा पाने की इच्छा से 'आत्मा' को देखने के लिए 'आत्मा' की खोज में जिज्ञासु प्रवृत्त हो जाता है। कोरक से क्रमिक विकसित पुष्प के समान जीव में ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। सब से पहले आरम्भिक अवस्था में ज्ञान का स्वरूप अति मुग्ध होता है, इसलिए उसके द्वारा अति स्थूल जगत् का एवं आत्मा का अत्यन्त स्थूल स्वरूप का ज्ञान जीव को क्रमशः प्राप्त होता है। जैसा स्थूल साधन हो उसी प्रकार का स्थूल अनुभव होना स्वाभाविक है। यद्यपि जिज्ञासु को आत्मा के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान तो अभी हुआ नहीं, तथापि आत्मा के सम्बन्ध में 'वह सब से अधिक प्रिय है,' 'उसके आश्रित अन्य सभी वस्तुयें हैं,' उसके ज्ञान में ही दुःख की चरम निवृत्ति है,' 'वही आनन्द है,' इत्यादि भावनायें जिज्ञासु के मन में सदैव बनी रहती हैं। अपनी खोज में जहां उसे अपनी भावनाओं के समान भावना देख पड़ती हैं उसे ही वह 'आत्मा' समझ लेता है। यह तो स्वाभाविक है। अतएव आत्मा की खोज में लगा हुआ जिज्ञासु संसार के तथा आध्यात्मिक जगत् की वस्तुओं में अपनी भावनाओं को तारतम्य की दृष्टि से देखने लगता है और क्रमशः अपनी खोज में अग्रसर होता जाता है। जिसमें अधिक आनन्द पाता है, उसे ही 'आत्मा' समझ लेता है और उससे अधिक आनन्द देने वाले वस्तु को पाकर पहली वस्तु में देखी 'आत्मा' को छोड़ कर दूसरी वस्तु को 'आत्मा' कहने लगता है इसी क्रम से तीसरे में अधिक आनन्द पाकर पूर्व-पूर्व वस्तु को छोड़ता हुआ जिज्ञासु 'आत्मा' की खोज में आगे बढ़ने लगता है। जिसे उसने पहले 'आत्मा' समझा था उस समय उसकी बुद्धि उससे

सूक्ष्मतर वस्तु को जानने में असमर्थ रहती है और उसे ही 'आत्मा' मानकर उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करती है। पश्चात् ज्ञान के क्रमिक विकास से उस पूर्व की 'आत्मा' से अब उसे सन्तोष नहीं मिलता, उसमें उतना आनन्द नहीं मिलता जितना अब उसे दूसरी वस्तु में मिलता है। इसलिए अब वह आनन्द को ढूंढता हुआ दूसरी वस्तु में अधिक आनन्द पाता है और उसे ही 'आत्मा' मानकर उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने लगता है। इसी सोपान-परम्परा से 'आत्मा' को ढूंढता हुआ जिज्ञासु क्रमशः भौतिक जगत्, प्राकृतिक जगत्, मायिक जगत् एवं चिन्मय जगत् में विचरण करता हुआ पृथिवी आदि भौतिक पदार्थों को सत्त्व, रजस् और तमस् के रूप में देखकर, पश्चात् इन तीनों गुणों को विशुद्ध सत्त्व प्रधान अनिर्वचनीय माया के रूप में पाकर, क्रमशः पश्चात् इन्हें ही चिन्मय रूप में देखकर, अज्ञान के दूर हो जाने पर अपने शरीर के ही अन्दर वर्तमान प्रत्यगभिन्न चैतन्य को प्राप्तकर अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के भेद के दूर हो जाने पर 'अहं ब्रह्म' का साक्षात् अनुभव करता हुआ अन्त में 'अहं' बोध को भी लुप्तकर 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किञ्चन,' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में वह अपने को भी विलीन कर देता है। फिर कहाँ है 'द्वैत' और जब 'द्वैत' नहीं तब 'अद्वैत' ही कहाँ। इसीलिए उपनिषद् ने कहा—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' और याज्ञवल्क्य ने कहा—'विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति'। यहीं पूर्णत्व की प्राप्ति होती है। यहीं अखण्डबोध होता है। यहीं आत्मा का साक्षात्कार होता है। यहीं दुःख से सर्वदा के लिए मुक्ति मिलती है और यहीं पूर्ण आनन्द का साक्षात्कार होता है। एक बार इस स्वरूप को पाकर पुनः लौटकर जीव संसार में नहीं आता। यही 'दर्शन' है। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि सभी दर्शन एक ही उद्देश्य से अर्थात् दुःख की चरमनिवृत्ति या परमानन्द की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं, अतएव सभी जिज्ञासु एक ही मार्ग के पथिक हैं। प्रत्येक दर्शन इसी 'दर्शन-यात्रा' में भिन्न-भिन्न विश्राम-स्थान है। प्रत्येक विश्राम-स्थान

से स्वतन्त्र रूप में परमात्मा की खोज की जाती है। एक विश्राम-स्थान का अनुभव दूसरे विश्राम-स्थान के अनुभव से सर्वथा भिन्न है। दृष्टि-कोण के भेद से परस्पर भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु इनमें परस्पर वैमनस्य नहीं है। इनमें पूर्ण सामञ्जस्य है, क्यों कि हैं तो सभी एक ही मार्ग के पथिक। दूसरा मार्ग तो है ही नहीं। वेद में इसीलिए कहा है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। सोपानों की परम्परा में स्थूल से सूक्ष्म में जाते हुए एक आगे है और एक पीछे। सभी को जाना तो वहीं है। लक्ष्य तो एक ही है।

सांख्य-योग की भूमि

अब यहाँ विचार करना है कि उपर्युक्त मूढ़तम अवस्था से प्रारम्भ कर चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाली सोपान-परम्परा में सांख्य-योग का क्या स्थान है। इसके समाधान के लिए सांख्यदर्शन के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक तत्वों का विचार करना आवश्यक है। 'आत्मा' ही की खोज करना है इस लिए आध्यात्मिक तत्वों को ही लेकर सांख्य-भूमि का निरूपण यहाँ किया जाता है।

आत्मा की अवस्थाएँ—वेद तथा उपनिषदों में आत्मा के सम्बन्ध में अनेक बातें कही गयी है, किन्तु उनमें कोई क्रम नहीं है और न तो उनका कोई अपना प्रतिपाद्य विषय ही है तथा न उनमें कोई वर्गीकरण ही है। आत्मा के सम्बन्ध में क्रमिक विचार तो दर्शनों के वर्गीकरण करने पर देख पड़ता है। वर्गीकरण की अवस्था में सबसे पहले 'चार्वाक-दर्शन' का स्थान है। चार्वाकों ने 'आत्मा' के 'अस्तित्व' को तो माना है, किन्तु उसे वे भूत तथा भौतिकों से पृथक नहीं कर सके। सोपान-परम्परा में वे पहली सीढ़ी पर खड़े हैं। मूढ़तम अवस्था के प्रतीक के स्वरूप में उनकी 'आत्मा' भूत तथा भौतिकों से भिन्न नहीं हो सकती। 'जैन-दर्शन' ने ऊपर की सीढ़ी से 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया, तथा उसे 'उपयोगमय' भी माना, किन्तु 'आत्मा' को सावयव, देह-परिमाण आदि भौतिक

पदार्थों के गुणों से पृथक् नहीं पाया। 'बौद्ध-दर्शन' ने 'आत्मा' को चित्त सन्तति या आलयविज्ञान के रूप में प्राप्त किया, किन्तु आत्मा-रूपी, एक पृथक् तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा ने भी 'आत्मा' की पृथक् सत्ता मानी। 'आत्मा' का एक अपना स्वतन्त्र स्वरूप है, यह भी मीमांसा ने स्वीकार किया, आत्मा में रहने वाले 'ज्ञान' को स्वप्रकाश तथा नित्य भी माना, किन्तु 'आत्मा' के सम्बन्ध में विभुत्व तथा नित्यत्व को छोड़ कर और कोई विशेष सूक्ष्म विचार नहीं किया।

यद्यपि इन लोगों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से 'आत्मा' को ढूंढ कर उसे भूत तथा भौतिकों से पृथक् पाया, किन्तु फिर भी उनकी दृष्टि में 'आत्मा' वस्तुतः एक जड़-द्रव्य ही रहा। 'आत्मा' एक पृथक् सत् वस्तु है ऐसा जान कर भी जिज्ञासु की अभीष्ट-सिद्धि नहीं हुई। उसे इतने ही ज्ञान से सन्तोष नहीं हुआ अतएव इसके सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु की प्रवृत्ति आगे बढ़ती ही गयी, और वह न्याय-मीमांसा की लौकिक तथा व्यावहारिक-भूमि से सूक्ष्म स्तर की तरफ बढ़ने लगी।

न्याय-वैशेषिक के तत्त्वों का विचार करने से जिज्ञासु की बुद्धि पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, मनस् तथा आत्मा इन नौ नित्य द्रव्यों को पाकर स्थिर हो जाती है। न्याय-वैशेषिक की सीढ़ी पर स्थिर रह कर इन नौ द्रव्यों को न तो वे कम कर सकते हैं और न इनके स्वरूप को सूक्ष्मतर ही बना सकते हैं। क्योंकि नैयायिकों की दृष्टि व्यावहारिक भूमि से सूक्ष्म भूमि में प्रवेश नहीं कर सकती। उनका ज्ञान इतने ही दूर तक विकसित हो सका। वास्तविक तत्त्व तो 'एक' ही है, 'अनेक' नहीं, इस विश्वास को दृढ़ रख कर जिज्ञासु और आगे बढ़ता है, परमाणुवाद के क्षेत्र को छोड़ परमाणुओं को तथा अन्य पाँच नित्य तत्त्वों को विशेष रूप से विश्लेषण कर उसके भीतर के रहस्य को जानने के लिए इन्हीं के सहारे आगे की सीढ़ी पर उतर कर जिज्ञासु

120 +00

बौद्धिक-जगत् में प्रवेश करता है। यही जगत् सांख्य की भूमि है। सांख्य-दर्शन वास्तव में मनोवैज्ञानिक-दर्शन है। इसके सभी तत्त्व सूक्ष्म हैं। जिज्ञासु की स्थूल इन्द्रियों से इसके तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता सूक्ष्म तत्वों के दर्शन के लिए सूक्ष्म साधन चाहिए। सांख्य-दर्शन के अनुसार यह सूक्ष्म साधन 'महत्' या 'बुद्धि' तत्त्व है, जिसका विचार आगे किया जायगा।

सांख्य का महत्त्व--'सांख्य' शब्द सम् पूर्वक 'ख्याञ्' (विचार करना) धातु से 'अण्' प्रत्यय लगा कर बना है। इसका अर्थ है 'सम्यक् ख्यानम्' अर्थात् सम्यक् विचार। इसी को 'विवेक-बुद्धि' 'प्रकृति-पुरुष-विवेक'-'विवेक-ख्याति' 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' भी कहते हैं। यह विवेक-बुद्धि सांख्य दर्शन के तत्त्वों के ज्ञान से प्राप्त होती है। प्राचीनों की उक्ति है—'न हि सांख्यसमं ज्ञानम्'। अर्थात् यथार्थ ज्ञान तो सांख्य-दर्शन में ही है, ऐसा ज्ञान दूसरे दर्शन में नहीं है। जिन्हें दुःख-निवृत्ति की इच्छा होती है, उन्हें तात्त्विक ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान के बिना चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसी लिए भगवान् ने गीता में कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

इस लिए सांख्य दर्शन का अध्ययन तथा अनुशीलन आवश्यक है। 'आत्मा' चित् है, वह ज्ञानस्वरूप है, इस विषय का तात्त्विक विचार सांख्य-दर्शन ही में जिज्ञासु को मिलता है। न्याय-वैशेषिक में 'आत्मा' एक प्रकार से पत्थर की तरह जड़ है। 'आत्मा' में ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान 'आत्मा' का आगन्तुक धर्म है। इस लिए जिस स्थान पर पहुँच कर न्याय-वैशेषिक के तात्विक विचार रुक जाते हैं, वहीं से सांख्य का विचार आरम्भ होता है। न्याय-वैशेषिक के जो सूक्ष्मतत्त्व हैं, वही सांख्य के स्थूलतम तत्त्व हैं। ये बातें आगे स्पष्ट की गयी हैं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि दर्शनों के अध्ययन से ऐसा मालूम होता है कि भारतीय विद्वानों की आध्यात्मिक-प्रवृत्ति बौद्धों के साथ झगड़ते रहने के कारण इधर सर्वथा बहिर्मुखी हो गयी। न्याय-दर्शन के तार्किकरूप ने विद्वानों को अन्तर्दृष्टि से दूर हटा दिया। अतएव सांख्य-भूमि के लौकिक तथा बौद्धिक तत्त्वों के वास्तविक विचार के क्षेत्र में विद्वानों का पाण्डित्य बहुत सफल न हो सका। वहाँ तो ज्ञानियों की अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा है। इस लिए आधुनिक काल में सांख्य दर्शन के तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का परिचय एक प्रकार से अन्धकार में पड़ा हुआ है।

जैसा ऊपर कहा गया है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक का अन्त होता है वहीं सांख्य का आरम्भ होता है। न्याय-वैशेषिक के नौ नित्य तत्त्वों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से जिज्ञासु को यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये नौ तत्त्व नित्य अर्थात् अविनाशी नहीं हैं। विश्लेषण के द्वारा ये सूक्ष्मतर तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं और अन्त में ये नौ तत्त्व केवल दो तत्वों—'प्रकृति और पुरुष'—ही में परिणत हो जाते हैं।

साहित्य

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि थे। उन्होंने अपने शिष्य आसुरि को सांख्य-दर्शन का उपदेश दिया। इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थ नहीं मिलते। आसुरि के प्रथम शिष्य[1] 'पञ्चशिख' थे। इन्होंने सांख्य-दर्शन पर एक 'सूत्र ग्रन्थ' लिखा था। ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु पञ्चशिख के नाम से कई सूत्रों का उल्लेख मिलता है। योगभाष्य में आठ सूत्रों का उल्लेख है। विज्ञानभिक्षु तथा वृद्ध वाचस्पतिमिश्र का कहना है कि ये सूत्र पञ्चशिख के रचित हैं[2]। इनमें से किसी किसी सूत्र का अन्य ग्रन्थों में भी उल्लेख है। उनके अतिरिक्त 'भामती' आदि ग्रन्थों

---

1. महाभारत शान्तिपर्व, २१८-६-१०
2. १-४, १-२५, १-३६, २-५, २-६, २-१३, ३-१३, ३-४१

में भी कुछ सूत्र मिलते हैं ।[1] इन सूत्र का यहां एकत्र संकलन कर देना अनुपयुक्त न होगा ।

(१) एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ।[2]

अर्थात् 'एक ही दर्शन' 'ख्याति ही दर्शन' । अभिप्राय यह है कि लौकिक भ्रान्त दृष्टि में 'ख्याति' या 'बुद्धि की वृत्ति' ही 'दर्शन' है। इस प्रकार अविद्या के कारण बुद्धि वृत्ति को 'दर्शन' अर्थात् 'पौरुषेय चैतन्य के साथ एकाकार मान लिया जाता है ।

(२) आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ।[3]

(३) तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते ।[4]

अभिप्राय यह है कि अणु मात्र तथा सभी कारणों की अपेक्षा सूक्ष्म उस अस्मितामात्र या बुद्धि तत्त्व का एवं उसके आध्यात्मिक सूक्ष्म भान के अनुसरणपूर्वक केवल 'अस्मि' या 'मैं हूँ' इस रूप में ही भान होता है ।

(४) व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेन अभिप्रतीत्य तस्य सम्पद-मनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचति आत्मव्या-पदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः ।[5]

---

1. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की टीका, २-२-१० ।
2. योगभाष्य, १-४ ।
3. योगभाष्य, १-२५ योगी लोगों में तपस्या के कारण सूक्ष्म शरीर या चित्त बनाने की शक्ति हो जाती है, जिसके द्वारा वे अपनी इच्छा से अनेक शरीर धारण कर लेते हैं और अपूर्व कार्यों का सम्पादन करते हैं । इसे 'निर्माणकाय' कहते है । इसी प्रकार योगशक्ति से अनेक प्रकार के चित्तों का भी निर्माण योगी लोग कर लेते हैं और उनके द्वारा ज्ञान का प्रचार करते हैं । इसे 'निर्माणचित्त' कहते हैं । बौद्ध दर्शन में इसका विशेष प्रचार है ।
4. योगभाष्य, २-५ ।
5. योगभाष्य, २-६ ।

अभिप्राय यह है कि व्यक्त या अव्यक्त सत्य को, अर्थात् स्त्री, पुत्र, पशु आदि चेतन तथा शय्या, आसन आदि अचेतन वस्तु को अपना ही स्वरूप मान कर उनकी सम्पत्ति को भी अपनी ही सम्पत्ति मानकर लोग आनन्दित होते हैं और उनकी विपत्तियों को अपनी ही विपत्ति समझकर, लोग शोक में पड़े रहते हैं, ये सभी मोह में पड़े हैं।

(५) बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन ।[1]

अभिप्राय यह है कि 'बुद्धि' से परे, अर्थात् भिन्न रूप का, जो 'पुरुष' है, उसे अपने से आकार (स्वरूप-सदाविशुद्धि), शील (औदासीन्य) विद्या (चैतन्य) आदि के द्वारा भिन्न न देखकर, मोह से उसमें (अर्थात् बुद्धि में) आत्मबुद्धि करे।

(६) 'स्यात् स्वल्पः सङ्कर सपरिहारः स प्रत्यवमर्थः, कुशलस्य नाऽपकर्षायालँ, कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यात्रायमावाप गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षल्पमपं करिष्यति'।

अभिप्राय यह है कि यज्ञ करने से प्रधान पुण्य-कर्माशय उत्पन्न होता है किन्तु साथ ही साथ (यज्ञ में पशु-हिंसा करने के कारण) पाप-कर्माशय भी उत्पन्न होता ही है। उस प्रधान पुण्य के साथ गौण रूप से पाप का भी स्वल्प सम्पर्क है। प्रायश्चित आदि करने से उस पाप का परिहार हो सकता है और वह पाप कथञ्चित् सह्य किया जा सकता है। किन्तु कुशल अर्थात् विशेष पुण्य-कर्माशय को वह (पाप) नाश नहीं कर सकता है, क्योंकि हमारे और भी अन्य कुशल पुण्य कर्म हैं जहाँ यह स्वल्प पाप-कर्माशय 'आवाप' को प्राप्तकर अर्थात् क्षीण होकर स्वर्ग में थोड़ा ही दुःख देगा।

(७) 'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते'।[3]

1 योगभाष्य, २-६। 2. योगभाष्य, २-१३।
3 योगभाष्य, ३-१२।

अभिप्राय यह है कि बुद्धि के जो धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये आठ भावरूपों के अतिशय हैं तथा वृत्ति के जो शान्त, घोर और मूढ़ ये तीन अतिशय (उत्कटता) हैं, इनमें परस्पर विरोध होता है, अर्थात् जब धर्म का उत्कर्ष होता है तब अधर्म का उत्कर्ष नहीं होता इत्यादि ; किन्तु बुद्धि का साधारण भाव या वृत्ति अतिशय के साथ विरोध नहीं करता, मिलकर ही कार्य करती है।

(८) 'तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति'।[1]

अभिप्राय यह है कि समान देश अर्थात् आकाश में रहने वाले सभी श्रवण-ज्ञान युक्त व्यक्तियों का एक ही देशावच्छिन्न श्रुतित्व है, अर्थात् सभी का श्रोत्रेन्द्रिय एक आकाश ही है।

(९) 'तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः'।[2]

अभिप्राय यह है कि पुरुष और प्रकृति के संयोग के हेतु के परित्याग से दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो सकता है।

किसी का मत है कि 'षष्टितन्त्र' भी पञ्चशिख का ही ग्रंथ है।

विन्ध्यवास या विन्ध्यवासिन् एक बहुत प्रसिद्ध सांख्य के आचार्य थे। इनका मत अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित मिलता है। कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक'[3], 'भोजवृत्ति'[4], 'मेधातिथिभाष्य'[5], आदि ग्रन्थों में भी इनके मत की चर्चा है।

मृत्यु के पश्चात् 'आतिवाहिक शरीर' के द्वारा जीव अन्यत्र जाता है। इस मत को विन्ध्यवास नहीं स्वीकार करते, यह कुमारिल ने कहा है।[6]

---

1. योगभाष्य, ३-४१। 2. ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य की टीका भामती, २-२-१०। 3. पृष्ठ ३६३, कारिका १४२ ; ७०४, ६२। 4. ४-२२। 5. मनुसंहिता, १-५५। 6. अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना-श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद ६२।

इनके अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों में वार्षगण्य, वोढ्, देवल आदि के नाम प्रसिद्ध हैं, किन्तु इनके मतों का भी परिचय प्राप्त नहीं है।

सोलहवीं सदी में विज्ञानभिक्षु बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं। कहा जाता है कि वर्तमान 'सांख्यसूत्र' और उसका 'सांख्यप्रवचन-भाष्य', ये दोनों इन्हीं की रचनाएँ हैं। इन्होंने व्यासभाष्य पर 'योगवार्तिक', ब्रह्मसूत्र पर 'विज्ञानामृत-भाष्य' भी लिखे हैं। इनके अतिरिक्त 'सांख्य-सार,' एवं 'योगसार' भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। ये बहुत स्वतन्त्र विचार के विद्वान् थे। इनके ग्रन्थों में सांख्य और वेदान्त के विचारों का साम्मिश्रण है। इसलिए 'सांख्यसूत्र' तथा 'भाष्य' को विद्वानों ने सांख्य-दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं माना है।

सोलहवीं सदी में अनिरुद्धभट्ट ने सांख्यसूत्र पर एक वृत्ति लिखी है जिसके ऊपर वेदान्तिन् महादेव ने सांख्यवृत्तिसार लिखा है। वृत्ति बहुत उपयुक्त टीका है।

ईसा के पूर्व दूसरी सदी में 'ईश्वरकृष्ण' एक बहुत प्रसिद्ध सांख्य के आचार्य हुए हैं। इन्होंने 'षष्टितन्त्र' के आधार पर 'सांख्यकारिका' नाम का एक सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में सत्तर कारिकाएं थीं। इसलिए इसे 'सुवर्णसप्तति' भी लोग कहते हैं। किन्तु खेद है कि पहली सदी के आस-पास में इसकी बहुत ही प्रधान एक कारिका किसी कारण से नष्ट हो गयी और केवल उनहत्तर ही कारिकाएं हमारे विद्वानों को मिली हैं। फिर भी सांख्यदर्शन पर यही एकमात्र ग्रन्थ सब दिन से प्रामाणिक माना गया है, अतएव इसी के आधार पर प्रस्तुत ग्रंथ लिखा गया है। सांख्यकारिका की निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं—

१—**माठर या माढ़र-वृत्ति**—यह सब से प्राचीन टीका है। 'अनु-योगद्वार' नाम के दूसरी सदी के एक जैन-ग्रन्थ में इसकी चर्चा है। यह

टीका अप्राप्य है। काशी से प्रकाशित 'माठरवृत्ति' इससे भिन्न और नवीन है।

२—**गौड़पाद-भाष्य**—यह भी प्राचीन टीका है। इसमें केवल उनहत्तर कारिकाओं पर भाष्य है। इस भाष्य में सांख्य के वास्तविक स्वरूप की दो बार चर्चा है, जिससे सांख्य का कुछ ज्ञान हो जाता है। इसके रचयिता कौन गौडपाद यह ठीक से कहा नहीं जा सकता।

३—**जयमङ्गला**—इसके लेखक 'शंकरार्य' हैं, भूल से इन्हें 'शङ्कराचार्य' लोग कहते हैं। इसके मङ्गलाचरण में लेखक ने बुद्ध को प्रणाम किया है, अतएव यह लेखक कोई बौद्ध विद्वान् मालूम होते हैं। इनका समय आठवीं या नवीं सदी कहा जा सकता है।

४—**चन्द्रिका**—सत्रहवीं सदी के सन्यासी विद्वान् नारायणतीर्थ इसके रचयिता हैं। वृद्धवाचस्पतिमिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' टीका की अनुगामिनी यह टीका है।

५—**सरल-सांख्य-योग**—२०वीं सदी के हुगली (बंगाल) के प्रसिद्ध सांख्याचार्य हरिहरारण्यक ने बंगला भाषा में यह व्याख्या लिखी है।

६—**तत्त्वकौमुदी**—वाचस्पतिमिश्र (प्रथम, वृद्ध) ने यह विस्तृत टीका लिखी है। इनका यह पांचवां ग्रन्थ है। दसवीं सदी के मध्यकाल ८४१ ई० में वाचस्पतिमिश्र मिथिला में उत्पन्न हुए थे। वास्तव में वे एक बहुत बड़े विद्वान् थे। ये 'द्वादश-दर्शनटीकाकार' कहलाते हैं। इनकी तत्त्वकौमुदी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। सर्वाङ्गपूर्ण होने के कारण विद्वानों ने इसे सांख्यशास्त्र का एक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ ही मान लिया है। परन्तु खेद है कि वाचस्पतिमिश्र ने इस व्याख्या को न्याय-भूमि की दृष्टि से लिखा है। इन्होंने सांख्य के तत्त्वों को व्यावहारिक या लौकिक जगत् के तत्त्वों के समान ही मान कर न्याय-दर्शन की प्रक्रिया के अनुसार सांख्य के बौद्धिक (अर्थात् बुद्धितत्त्व से निकले हुए) तत्त्वों का

विचार किया। अतएव सांख्य-दर्शन के रहस्य को प्रतिपादन करने में यह टीका सफल नहीं है। इसके भी ऊपर स्वतन्त्ररूप से अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी हैं, किन्तु वे सभी सांख्य के रहस्य से पराङ्मुख हैं।

७—युक्तिदीपिका—यह एक अज्ञातनामा लेखक की टीका है। यद्यपि इसके अन्त में 'कृतिरियं श्रीवाचस्पतिमिश्राणाम्' लिखा है, किन्तु यह भूल है। यह टीका प्राचीन नहीं है। इसमें (सांख्य) सूत्र तथा भाष्य का उल्लेख है।[1]

८—सुवर्णसप्ततिशास्त्र—कहा जाता है कि छठी सदी के विद्वान् परमार्थ ने इसे चीनी-भाषा में अनुवाद किया था। हाल में पण्डित ऐय्यास्वामीशास्त्रीने इसे चीनीभाषा से संस्कृत-भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित किया है।

इनके अतिरिक्त और भी टीकाएँ अप्रकाशित हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता। इन सभी के अध्ययन करने के अनन्तर मुझे तो यह मालूम होता है कि सांख्य के तत्त्वों के स्वरूप को विद्वानों ने बिना समझे न्यायदर्शन की तरह उनका विचार किया है। इसी कारण यथार्थ में ये टीकाएँ 'सांख्यकारिका' की उचित व्याख्या न कर पायीं। तथापि गुरु की कृपा से जो कुछ मुझे समझ में आया है उसी के आधार पर मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में 'सांख्य-दर्शन' का निरूपण किया है।

योग-दर्शन के लिए हमने योगसूत्र, योगभाष्य तथा योगवार्तिक ही को आधार मान कर प्रस्तुत पुस्तक में तत्त्वों का विवेचन किया है।

लक्ष्य और उसकी प्राप्ति

दुःखनिवृत्ति के उपाय—ऊपर कहा गया है कि तीन प्रकार के दुःख से आघात पाने पर उन दुःखों के नाश करने के उपाय को लोग ढूंढते हैं। यदि साधारण उपाय से ही इन दुःखों का नाश हो जाय, तो कठिन उपाय को ढूंढना व्यर्थ है। कहा भी है—

1. पृष्ठ २।

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।

सतत गमन-स्थान में ही अर्थात् बिना आयास के ही यदि मधु मिल जाय तो उसे ढूंढने के लिए पर्वत पर लोग क्यों जायें ।

परन्तु साधारण उपाय से निश्चित रूप में तथा सर्वदा के लिए दुःख का नाश नहीं होता । अतएव ऐसे उपाय को ढूंढना आवश्यक है जिससे दुःख से सर्वदा के लिए छुटकारा अवश्य मिल जाय । इसीलिए कहा है—

दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।[1]

अर्थात् दृष्ट (अतिसाधारण या लौकिक) उपायों से दुःख का नाश यदि हो जाय, तो अन्य उपायों को ढूंढने का प्रयास व्यर्थ है । परन्तु यह बात सत्य नहीं है । साधारण उपायों के द्वारा दुःखों का कुछ काल के लिए भले ही नाश हो जाय, किन्तु यह नाश न तो अवश्य ही हो जायगा और न सर्वदा के लिए ही होगा । इसलिए अन्य प्रकार का उपाय ढूंढना आवश्यक है ।

अस्तु, लौकिक उपाय से दुःख का ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक नाश न हो, किन्तु वेद तो बहुत प्रामाणिक ग्रंथ है और उसमें लिखा है कि —'**स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत** ।' स्वर्ग की इच्छा करनेवाला ज्योतिष्टोम नाम का याग करे । 'स्वर्ग' वह स्थान है जहाँ दुःख न हो, जो इच्छा मात्र करने से मिले तथा जहाँ सुख ही सर्वदा के लिए हो एवं बाद को कभी दुःख से ग्रसित न हो । जैसा कहा है—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ।।

ऐसे स्थान में जाने से दुःख से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है । इसलिए दुःख से सदा छुटकारा पाने की इच्छा करनेवाले वैदिक विधान के अनुसार याग करें और सदा सुखी रहें । याग अनेक प्रकार का होता है—कोई एक महीने में, कोई छः महीनों में और कोई साल

1. सांख्यकारिका—१

भर में सम्पन्न होता है। अतएव अधिक से अधिक एक साल ही के परिश्रम से दुःख का सदा के लिए नाश हो जाने के कारण जिज्ञासु को वैदिक उपायों का अवलम्बन करना उचित है।

परन्तु वैदिक याग करने में अनेक दोष हैं। याग करने में पशु-हिंसा होती है। कहा है--**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**। अर्थात् अग्निष्टोम याग करने में अग्नीषोमीय पशु की हिंसा करे। हिंसा करने में पाप है और पाप से दुःख उत्पन्न होता है। यद्यपि याग में की गई हिंसा के द्वारा याग सम्पन्न होती है और याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है किन्तु याग के सम्पादन करने में की गई हिंसा से पाप भी तो होता ही है। अतएव स्वर्ग में जाकर उस पाप से उत्पन्न दुःख का भोग भी करना ही पड़ता है। इसलिए वैदिक उपाय के द्वारा भी दुःख की निवृत्ति सर्वथा नहीं होती। यही बात ईश्वरकृष्ण ने कही है—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

साधारण उपायों के समान वैदिक उपाय भी दुःख का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक नाश नहीं करता, क्योंकि वैदिक उपाय में पशु की हिंसा होने के कारण विशुद्धि नहीं है। याग करने से याग करनेवाले के अन्तःकरण में एक शुभ संस्कार उत्पन्न होता है और जितनी शक्ति उस संस्कार में होती है उतने ही समय तक याग करनेवाला स्वर्ग में रहता है। बाद को वह पुण्य क्षीण हो जाता है, याग करनेवाला पुनः संसार में लौट कर आ जाता है और फिर दुःख भोगने लगता है। तीसरी बात यह है कि वेद के अनुसार अग्निष्टोम याग करने से तो स्वर्ग मात्र प्राप्त होता है, किन्तु जो स्वर्ग में जाकर वहाँ का आधिपत्य प्राप्त करना चाहता हो तो वह 'वाजपेय' नाम का याग करे। ऐसी स्थिति में अग्निष्टोम याग करनेवाला स्वर्ग में भी जाकर वाजपेय याग करनेवाले के अधीन होकर रहेगा। उसका स्वातन्त्र्य नहीं रहेगा। अर्थात् स्वर्ग में परतन्त्र रहने के कारण उसे दुःख रहेगा ही। इसलिए स्वर्ग में भी दुःख

से सर्वथा छुटकारा नहीं होता। अत एव दुःख से मुक्ति के लिए दूसरे किसी उपाय को ढूंढना चाहिए। इसीलिए कहा है—

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥[1]

अर्थात् लौकिक एवं वैदिक उपायों से भिन्न उपाय अधिक कल्याण देने वाला है। यह उपाय है सांख्य-दर्शन में प्रतिपादित 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' का विशेष ज्ञान का प्राप्त करना। इसीलिए सांख्य-दर्शन का अध्ययन करना आवश्यक है।

सांख्य के तत्त्व—ये उपर्युक्त तीनों शब्द एक प्रकार से सांख्य-दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। इनका विश्लेषण करते हुए गौड़पाद ने अपने भाष्य में कहा है—

"तत्र व्यक्तं महदादि बुद्धिः, अहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि (शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रम्, रसतन्मात्रम्, गन्धतन्मात्रम्) एकादश इन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि। अव्यक्तं प्रधानम्। ज्ञः पुरुषः। एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते। एतद्विज्ञानाच्छ्रेय इति। उक्तं च-

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥"[2]

ग्यारह इन्द्रियों का निरूपण ईश्वरकृष्ण ने स्वयं किया है—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यकर्मेन्द्रियाण्याहुः ।[3]
एकादशमिन्द्रियं मनः ।[4]

व्यक्त शब्द से महत् आदि तेईस तत्त्व समझे जाते हैं—बुद्धि, अहङ्कार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धत-

---

1. सांख्यकारिका, २। 2. गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, २।
3. सांख्यकारिका, २६। 4. नारायणतीर्थकृत—चन्द्रिका, २७।

न्मात्रा, आँख, कान, नासिका, जिह्वा, तथा त्वक् ये पांच ज्ञान देनेवाली इन्द्रियाँ ; मुख, हाथ, पैर, मल को बाहर निकालने वाली तथा सन्तान उत्पन्न करनेवाली जननेन्द्रिय ये पांच कर्म करनेवाली इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवां मन और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये पांच महाभूत मिल कर तेईस 'व्यक्त' हैं। एक मात्र प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति 'अव्यक्त' है एवं चेतन पुरुष 'ज्ञ' है।

इस प्रकार सांख्य-भूमि में प्रवेश करने से जिज्ञासु के सामने ये ही पच्चीस तत्त्व सांख्यक्षेत्र के अन्तर्गत देख पड़ते हैं। इन्हीं का विशेष ज्ञान प्राप्त करने पर दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। कहा भी है—जटाधारी होकर, या शिर के बालों को मुण्डन कर, या शिर पर शिखा रखकर किसी आश्रम में रहता हुआ जो कोई इन पचीस तत्त्वों को जानता है, वह निस्सन्देह (दुःख से) मुक्त होता है। इसलिए इन पच्चीस तत्त्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इन तत्त्वों का इनके स्वरूप के अनुसार ईश्वरकृष्ण ने चार विभाग किए हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥[1]

मूला प्रकृति किसी का विकार नहीं है। यह सब का मूल, प्रकृति या कारण है। महत्, अहङ्कार तथा शब्द आदि पांच तन्मात्राएँ ये सात प्रकृति-विकृति हैं। ये दूसरों को उत्पन्न करते हैं, इस प्रकार ये प्रकृति हैं, और स्वयं अपने कारण से उत्पन्न होते हैं इसलिए विकृति भी हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच भूत तथा मनस् ये केवल विकृति हैं, ये किसी के कारण नहीं हैं। पुरुष न तो किसी का कारण (प्रकृति) ही है और न विकृति ही है।

इन तत्त्वों को विशेष रूप से जानने के लिए उनके योग्य साधन

1. साङ्ख्यकारिका ३।

अर्थात् प्रमाणों की आवश्यकता है। इसलिए अब प्रमाणों का विचार यहाँ किया जाता है।

प्रमाणनिरूपण

प्रमाण-विचार—किसी वस्तु को जानने के लिए उसका साधन चाहिए। फिर जिस स्वरूप का 'प्रमेय' या 'ज्ञेय' अर्थात् जानने की वस्तु हो, उसी के योग्य उसके जानने का साधन अर्थात् 'प्रमाण' भी होना चाहिए। यदि 'ज्ञेय' सूक्ष्म हो तो जानने के साधन को भी सूक्ष्म होना चाहिए। इस प्रकार 'प्रमेय' को जानने ही से उसके योग्य साधन अर्थात् 'प्रमाण' को ढूंढना है, और योग्य 'प्रमाण' के मिल जाने ही से 'प्रमेय' का विशेष ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस में एक प्रकार से 'अन्योन्याश्रय' दोष होने के कारण कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

इस के समाधान में यह समझना चाहिए कि जिज्ञासु ने न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा के तत्त्वों का विशेष ज्ञान इसके पूर्व ही प्राप्त कर लिया है और पृथिवी आदि चार भूतों के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मनस् इन नौ नित्य द्रव्यों का परिचय जिज्ञासु को प्राप्त है। किन्तु इससे उसे सन्तोष न होने के कारण वह आगे सूक्ष्म स्तर में जाकर तत्त्वों की खोज करना चाहता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि सांख्य का 'प्रमेय' न्याय के नौ नित्य द्रव्यों से सूक्ष्म अवश्य है। अतएव सांख्य के 'प्रमेय' को जानने के लिए न्याय के प्रमाणों से सूक्ष्म स्वरूप के प्रमाणों की प्रक्रिया को जानने की आवश्यकता है। इसलिए यहाँ पहले प्रमाणों का विचार आवश्यक है।

प्रमाणों की संख्या का विचार—सांख्य के प्रमेय तीन प्रकार के हैं यह ऊपर कहा गया है। इन तीनों के जानने के लिए कितने प्रमाणों की अपेक्षा होनी चाहिए यह भी विचार करने का विषय है, क्योंकि भिन्न-भिन्न दर्शन में प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी गई है। ग्यारहवीं सदी के मैथिल विद्वान् वरदराजमिश्र ने कहा है[1]—

---

1. तार्किकरक्षा, पृष्ठ ५६, पण्डितसंस्करण।

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः काणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चाथ साङ्ख्याः शब्दं च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः।
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा॥
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः।

चार्वाक ने 'प्रत्यक्ष' मात्र एक, वैशेषिक तथा बौद्धों ने 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' ये दो, साङ्ख्य ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द' ये तीन, एकदेशी नैयायिक अर्थात् भूषणकार भासर्वज्ञ ने भी 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' तथा 'शब्द' ये तीन, अन्य नैयायिकों ने उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त 'उपमान' ये चार, प्रभाकरमिश्र (गुरुमतवाले) मीमांसक ने उपर्युक्त चार के अतिरिक्त 'अर्थापत्ति' मिला कर पांच, कुमारिलभट्ट मीमांसक तथा वेदान्तिओं ने उपर्युक्त पांच के अतिरिक्त 'अभाव' ये छः तथा पौराणिकों ने उपर्युक्त छः के अतिरिक्त 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' मिलाकर आठ प्रमाण माने हैं। यह विश्वास रखना चाहिए कि वैज्ञानिक या दार्शनिक क्षेत्र में प्रमाणों की संख्या को स्वीकार करने में किसी को स्वातन्त्र्य नहीं है। प्रमेयों के स्वरूप पर प्रमाणों की संख्या निर्भर है। यदि एक ही प्रमाण से प्रमेयों का ज्ञान हो जाय तो दो प्रमाण क्यों माना जाय, यदि दो से निर्वाह हो सके तो तीन क्यों स्वीकार किया जाय। इसलिए यह विचार आवश्यक है कि किस दर्शन के लिए कितने प्रमाणों की अपेक्षा है। सांख्य-दर्शन के तीन प्रकार के प्रमेयों को जानने के लिए तीन ही प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इसीलिए सांख्य के आचार्यों ने कहा है—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥[1]

---

1. सांख्यकारिका, ४।

सांख्य में तीन ही प्रमाण—प्रमाण के द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है। इसलिए तीन ही प्रकार के प्रमाण को सांख्याचार्यों ने स्वीकार किया है। इन्हीं तीनों प्रमाणों से सांख्य के पचीस तत्त्वों की सिद्धि होती है। जैसा गौड़पाद ने कहा है—

प्रमेयं—प्रधानं बुद्धिरहङ्कारः पञ्च तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि पुरुष इति। एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ता-व्यक्तज्ञा इत्युच्यन्ते। तत्र किंचित् प्रत्यक्षेण साध्यं किंचिदनुमानेन किंचिदागमेनेति त्रिविधं प्रमाणमुक्तम्।[1]

उपर्युक्त प्रधान आदि पचीस तत्त्व ही व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ कहे जाते हैं। इनमें से कुछ प्रत्यक्ष के द्वारा, कुछ अनुमान के द्वारा और कुछ आगम के द्वारा सिद्ध होते हैं, इसीलिए प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम या आप्तवचन ये तीन प्रमाण (सांख्य में) माने गये हैं। प्रमाणों के लक्षण को ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥[2]

प्रमाणों के लक्षण—प्रत्येक (प्रत्यक्ष के योग्य) विषय में (अर्थात् सांख्यदर्शन में गिनाये गये प्रत्यक्ष के योग्य प्रमेयों के सम्बन्ध में) जो अध्यवसाय अर्थात् बुद्धि के द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान उसके साधन को ही 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया—सांख्यदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति की परिपाटी न्यायवैशेषिक की प्रक्रिया से बहुत भिन्न है। इसलिए उस प्रक्रिया का निरूपण यहाँ किया जाना उचित है।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥[3]

---

1. सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य, ४। 2. सांख्यकारिका, ५।
3. सांख्यकारिका, ३५।

सांख्य में दो प्रकार के करण हैं। उनमें बुद्धि, अहङ्कार तथा मन ये तीन अन्तःकरण हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ये 'द्वारि' (द्वार हैं जिनके) है और पांच ज्ञानेन्द्रियाँ 'द्वार' कहलाती हैं। अर्थात् सांख्यमत में प्रत्यक्ष योग्य सभी विषयों के प्रत्यक्ष ज्ञान को अन्तःकरणों के साहाय्य लेकर बुद्धि ही प्राप्त करती है। बुद्धि परिणामिनी है। उसके व्यापार को वृत्ति कहते है। चित्-स्वरूप 'ज्ञ' का बिम्ब जब जड़ बुद्धि पर पड़ता है, तब बुद्धि चेतनवती मालूम होने लगती है और प्रत्यक्ष योग्य तत्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए वृत्ति-रूप में अहङ्कार एवं मन को साथ लेकर ज्ञान के विषय की तरफ चल पड़ती है। ज्ञानेन्द्रियां इस वृत्ति के द्वार हैं। उनसे होकर बाहर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्राओं के या आकाश आदि पांच भूतों के साथ बुद्धि या बुद्धि-वृत्ति का सम्पर्क होता है जिसके कारण बुद्धि, या बुद्धिवृत्ति जिस विषय के साथ सम्पर्क में आती है, उसी के आकार की हो जाती है और वह आकार पुरुष या ज्ञ में प्रतिबिम्बित या आरोपित होता है। उसी समय उस विषयका अध्यवसायात्मक ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान आरोपयुक्त पुरुष में उदित हो जाता है। उसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और उपर्युक्त प्रणाली प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। यही बात सांख्यकारिका, उसकी टीका, सांख्यसूत्र, प्रवचन-भाष्य, योगसूत्रभाष्य आदि ग्रन्थों में वर्णित है।

विषयं विषयं प्रतिविषयम्। प्रतिविषयमध्यवसायः प्रतिविषयाध्यवसायः। विषयः शब्दादयः अध्यवसायी बुद्धिः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणेन्द्रियद्वारेण विशेषावधारणप्रधाना या बुद्धिरुत्पद्यते तद् दृष्टम्। शुद्धत्वात् प्रमाणम्।[1]

भिन्न-भिन्न हर एक विषय को अर्थात् हर एक विषय के प्रति बुद्धि के अभिमुख होने, को 'प्रतिविषय' कहते हैं। हर एक विषय का निश्चयात्मक ज्ञान 'प्रतिविषयाध्यवसाय' है। शब्द आदि विषय हैं। बुद्धि (ही का स्वरूप) निश्चयात्मक ज्ञान है।

---

1. सांख्यकारिका जयमङ्गलाटीका, ५।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धों में (अर्थात् शब्द आदि पांच तन्मात्राओं में या आकाश आदि पांच भूतों में) क्रम से कान, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण इन्द्रियों के द्वार से अर्थात् शब्द (तन्मात्रा या आकाश) के प्रत्यक्ष के लिए कान के द्वार से (विषय प्रदेश में जाकर, विषय के साथ सम्पर्क में आकर, विषय के आकार को बुद्धि अपना आकार बनाकर) निश्चयात्मक जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे ही दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। शुद्ध होने के कारण यह प्रमाण है।

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।[1]

सम्बद्धं भवत् सम्बद्धवस्त्वाकारधारि भवति यद्विज्ञानं बुद्धिवृत्तिस्तत् प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः। स्वार्थसन्निकर्षजन्याकारस्याश्रयो वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निष्कर्षः। चक्षुरादिद्वारकबुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखातुल्या बाह्यार्थसन्निकर्षानन्तरमेव तदाकारोल्लेखिनी भवतीति नासम्भवः ।[2]

जिस (वस्तु) के साथ सम्पर्क को प्राप्त कर उस (वस्तु) के आकार को धारण करने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान है।

सम्पर्क को प्राप्त कर सम्बद्धवस्तु के आकार को धारण करने से जो विज्ञान अर्थात् बुद्धिवृत्ति होती है, वही प्रत्यक्ष-प्रमाण है। बुद्धि और अर्थ के सम्पर्क से उत्पन्न जो आकार होता है उसका आश्रय बुद्धि की वृत्ति है अर्थात् बुद्धिवृत्ति ही उस सम्बद्ध वस्तु के आकार की हो जाती है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। यही निष्कर्ष है। चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वार से बाहर निकलने वाली बुद्धिवृत्ति प्रदीप की शिखा के समान है। प्रदीप के प्रकाश में स्वतः कोई आकार नहीं है, किन्तु जिस वस्तु के साथ सम्पर्क में वह आता है, उसी के आकार का वह भी हो जाता है। इसी बात को योगभाष्य तथा वार्त्तिक में भी आचार्यों ने कहा है—

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् ।[3]

1. सांख्यसूत्र, १/८९ । 2. सांख्यप्रवचनभाष्य, १/८९ । 3. योगभाष्य, १/७ ।

इन्द्रियाण्येव प्रणालिकया चित्तसञ्चरणमार्गः। तैः संयुज्य तद्-गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति।[1]

इन्द्रियरूप नाली के द्वारा चित्त बाह्य वस्तु के साथ सम्बद्ध हो कर उसके आकार को धारण कर सामान्य तथा विशेष से युक्त विषय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान को प्राप्त करने वाली बुद्धि की वृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थात् इन्द्रियाँ ही तो चित्त के बाहर जाने के लिए नालियाँ हैं। उनके द्वार से हो कर अर्थात् चक्षु इन्द्रिय के गोलक रूपी द्वार से बाहर जाकर बाहर के वस्तु के साथ एकाकार होकर चित्त इन्द्रिय के साहाय्य से ही वस्तु के आकार को धारण करता है। यही चित्त का एक परिणाम है। इसी को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। यह चित्तवृत्ति करण है। उसका फल है प्रत्यक्ष ज्ञान। यही बात योगभाष्य और वार्तिक में स्पष्ट किया गया है—

फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः, बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः।[2] वृत्तिरूपस्य करणस्य फलं पुरुषनिष्ठश्चित्तवृत्तिविषयको बोधः, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्तेः। अयं च बोधो विषयदेश एव भवति, विभुत्वात्। अयं घट इत्याकारा बिम्बरूपा वृत्तिः कारणं तस्या एव वृत्तेश्चैतन्ये प्रतिबिम्बनाच्चैतन्यमप्ययं घट इत्याकारमिव सद्बोधाख्यं फलं भवतीति।[3]

सर्वेन्द्रिया बुद्धेः प्रतिसंवेदी तत्समानाकारः पुरुषः।[4] चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।[5] अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते।[6]

---

1. योगवार्तिक १/७, 2. योगभाष्य १/७, 3. योगवार्तिक १/७, 4. योगवार्तिक १/७। 5. योगसूत्र ४/२२, 6. योगभाष्य ४/२२।

पुरुषसम्बन्धी चित्तवृत्ति अर्थात् पुरुष के प्रतिबिम्ब से एकाकार रूप में युक्त चित्तवृत्ति ही बोध है। उस बुद्धि का आरोप पुरुष पर पड़ता है इसीलिए बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष है। यह बोध विषयदेश में ही होता है, क्योंकि विषयदेश में भी विभु होने के कारण चैतन्य रहता ही है और विषय के साथ बुद्धिवृत्ति का सम्पर्क होते ही विषयदेश में वर्तमान चैतन्य भी बुद्धि के आकार के समान आकार वाला हो जाता है। इसी लिए 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'[1] अर्थात् व्युत्थान या विक्षेप की दशा मे चित्तवृत्ति के साथ पुरुष का सारूप्य की प्रतीति होती है। यही योगसूत्र में कहा गया है। अतएव 'अयं घटः—' इस प्रकार की बिम्बरूपा चित्त-वृत्ति होती है और साथ ही साथ उस वृत्ति के चैतन्य में प्रतिबिम्बित होने के कारण चैतन्य भी 'अयं घटः,' इस प्रकार का बोधयुक्त हो जाता है।

संवेदिनी बुद्धि की प्रतिसंवेदी अर्थात् बुद्धिवृत्ति के समान आकार वाला पुरुष है। चिति कूटस्थ होने के कारण कहीं जाती नहीं। वह तो विभु है। बुद्धिवृत्ति के साथ विषय के सम्पर्क होने से, विषय देश में वर्तमान चैतन्य भी बुद्धि के आकार का हो जाता है। इसे ही स्व-बुद्धिसंवेदन कहते हैं। इसी बात को भाष्य ने स्पष्ट किया है कि भोक्तृ शक्ति अर्थात् चैतन्य में परिणाम नहीं होता और अतएव उसका कहीं सङ्क्रमण भी नहीं होता। किन्तु परिणामी जड़ पदार्थ के सम्पर्क से वह भी बुद्धिवृत्ति का अनुकरण करने वाला तथा सङ्क्रमण करने वाला मालूम होने लगता है; चैतन्य के प्रतिबिम्ब से विशिष्टबुद्धि चेतन के समान मालूम होने लगती है और बुद्धिवृत्ति से समानता को प्राप्त करने के कारण चैतन्य भी उसी के समान वृत्ति धारण कर लेता है। अतएव उसे ज्ञानवृत्ति कहते हैं। यही प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप है।

जयमङ्गलाकार ने प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद किये हैं—प्रमाण और

1. योगसूत्र, १/४

अप्रमाण। शुद्ध होने से प्रमाण होता है जिसका विचार ऊपर किया गया है। और अशुद्ध होने से अप्रमाण होता है। इसके चार भेद हैं—

अशुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान और उसके भेद—सव्यपदेशम्, सविकल्पम्, अर्थव्यतिरेकि, इन्द्रियव्यतिरेकि चेति। तत्र दूरात् कचिदागच्छन्तं दृष्ट्वा देवदत्तसारूप्यं व्यपदिशति। देवदत्तोऽयमिति या बुद्धिरुत्पद्यते तत्सविकल्पम्, संशयितत्वादप्रमाणम्। तैमिरिकस्य द्विचन्द्रदर्शनं तदर्थव्यतिरेकि, द्वितीयचन्द्राभावात्। यत्स्वप्नदर्शनं तदिन्द्रियव्यतिरेकि, निद्रोपप्लुतत्वादिन्द्रियाणाम्।[1]

दूर से आते हुए किसी को देखकर आनेवाला व्यक्ति देवदत्त के समान है, ऐसी बुद्धि को **सव्यपदेश** कहा है। यह देवदत्त है इस प्रकार जो बुद्धि होती है उसे **सविकल्प** कहते हैं। ये दोनों संशय से युक्त हैं अतएव अप्रमाण हैं। नेत्र के दोष के कारण आकाश में दो चन्द्र को देखना अर्थव्यतिरेकि कहा जाता है, क्योंकि दो चन्द्र तो हैं ही नहीं। स्वप्न में वस्तुओं को देखना **इन्द्रियव्यतिरेकि** कहा जाता है, क्योंकि उस अवस्था में इन्द्रियाँ निद्रा से यथार्थ वस्तु को देखने में असमर्थ हैं।

ये चार प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुतः दोषयुक्त होने के कारण अशुद्ध हैं, इसलिए ये अप्रमाण हैं।

स्वप्न और योगजप्रत्यक्ष—उपर्युक्त प्रत्यक्ष की प्रणाली जाग्रत अवस्था के लिए है। स्वप्न तथा ध्यानावस्था में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसके सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु ने कहा है—

स्वप्नध्यानादौ घटाद्याकारतया चित्तवृत्तेरनुभूयमानत्वाद् बाह्येऽपि ज्ञानाकारः सिद्ध्यति। अत्रांशे बौद्धानामस्माकं चैकवाक्यत्वेऽपि न साम्यम्। अस्माभिर्बाह्यार्थस्यापि स्वीकारादिति।[2]

---

1. सांख्यकारिका, जयमङ्गलाटीका, ५।
2. योगवार्त्तिक, १।७।

स्वप्न-प्रत्यक्ष तथा ध्यानावस्था में योगज-प्रत्यक्ष में घट आदि विषय के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति का अनुभव लोगों को होता है। यदि बाह्य-विषय न होता तो यह अनुभव न हो सकता था। अतएव इस अनुभव के कारण बाह्य-विषय का चित्ताकार में परिणत होना सिद्ध होता है।

विज्ञानभिक्षु का कहना है कि इस प्रकार की अनुभूति योगाचार मतानुयायी बौद्धों ने भी मानी है, अतएव इस अंश में यद्यपि बौद्धों के साथ हमारी एकवाक्यता है, तथापि बौद्धमत से हमारे मत में भेद है। बौद्ध लोग बाह्यार्थ की पृथक् सत्ता नहीं मानते और हमने बाह्यार्थ की भी स्वतन्त्र सत्ता मानी है।

मुझे यहाँ इतना और कहना आवश्यक मालूम होता है कि वैभाषिक-बौद्धों ने तो बाह्यार्थ की भी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता मानी है, अतएव विज्ञानभिक्षु की व्याख्या में दोष रह जाता है। इसलिए यह कहना आवश्यक होगा कि बौद्धों ने यद्यपि बाह्यार्थ को भी स्वतन्त्र सत्ता मानी है, किन्तु उनके मत में बाह्यार्थ क्षणभङ्गुर है और सांख्य-योग के मत में बाह्यार्थ परिणामी होता हुआ भी अंशतः स्थिर है, क्षणभङ्गुर नहीं है। यही बौद्धों के साथ सांख्य-योग का भेद है।

सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचनभाष्य में विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि प्रत्यक्षप्रणाली का निर्देश जो ऊपर किया गया है वह केवल ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में है। योगियों के लिए ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए उनकी चित्तवृत्ति को प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर तदाकाराकारित होना आवश्यक नहीं है।[1] किन्तु विज्ञानभिक्षु को इस समाधान से सन्तोष नहीं है, अतएव उन्होंने पुनः लिखा है—

वास्तवं समाधानमाह[2]—

---

1. सांख्यसूत्र तथा प्रवचनभाष्य, १।६०।
2. सांख्यप्रवचनभाष्य, १।६१।

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः ।[1]

सत्कार्यस्थितेर्नष्टमपि स्वकारणे लीनं भूतत्वेनास्ति, भविष्यदपि स्वकारणेऽनागतत्वेनास्ति। योगजधर्मानुग्रहाल्लब्धातिशयस्य योगिन एव प्रधानसम्बन्धात् सर्वदेशकालादिसम्बन्ध इति[2]।

सांख्य-योग सत्कार्यवादी हैं अर्थात् इनके मत में कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। इसलिए अतीत और अनागत सभी वस्तु अपने कारण में लीन रहते हैं। नष्ट वस्तु भी भूत रूप में तथा भविष्यत् वस्तु भी अनागतरूप में मूला प्रकृति में अव्यक्त की अवस्था में विद्यमान रहते हैं। योगाभ्यास के कारण विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न योगियों को मूला प्रकृति के साथ सम्पर्क होता है इसीलिए उन्हें दूर और समीप स्थानों में तथा भूत और भविष्यत् कालों में रहनेवाले सभी वस्तुओं के साथ योगिओं की योगजधर्मविशिष्ट बुद्धि का सम्पर्क होने के कारण सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्यक्षज्ञान के सभी अंग—प्रत्यक्षज्ञान के सभी अंगों का निरूपण करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात्।
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं साङ्ख्यसूत्रितम्।
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥[3]

शुद्ध चेतन 'प्रमाता' है, वृत्ति 'प्रमाण' है। अर्थ अर्थात् प्रत्यक्ष-विषय के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का चेतन में प्रतिबिम्बित होना 'प्रमाण' है। प्रतिबिम्बित वृत्तियों का विषय 'मेय' अर्थात् 'प्रमेय' कह-

---

1. सांख्यसूत्र, १।६२। 2. साङ्ख्यसूत्रवृत्ति, साङ्ख्यसूत्र, १।६१। 3. योगवार्त्तिक, १।७।

लाता है। करण के साहाय्य के बिना ही साक्षी अर्थात् चेतन पुरुष से भास्य 'वृत्तियाँ' हैं। साक्षात् दर्शनरूप 'साक्षित्व' कहलाता है। यही सांख्य का सिद्धान्त है। कुछ लोगों का कहना है कि बिना किसी प्रकार के विकार के द्वारा द्रष्टृत्व ही 'साक्षित्व' है।

अनुमान का लक्षण—'लिङ्ग' अर्थात् परिचयात्मक चिन्ह के द्वारा 'लिङ्गी-' के एवं 'लिङ्गी' के द्वारा 'लिङ्ग' के ज्ञान का साधन 'अनुमान' प्रमाण है। जैसे-'दण्ड' (लिङ्ग) को देखकर यति (लिङ्गी) या 'यति' को देखकर उसके 'दण्ड' का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान से होता है। इसी को 'कारण' से 'कार्य' का, जैसे-जल से भरे हुये काले काले बादल (कारण-लिङ्ग) को देखकर वृष्टि (कार्य-लिङ्गी) का या 'कार्य' को देख कर 'कारण' का जैसे नदी में स्रोत के वेग, मलिन जल एवं बाढ़ (कार्य) को देखकर वृष्टि कहीं हुई है (कारण) ऐसा ज्ञान अनुमान से होता है।[1]

अनुमान के सात प्रकार के सम्बन्ध—सांख्याचार्यों ने लिङ्ग और लिङ्गी के द्वारा अनुमान में सात प्रकार के सम्बन्ध माने हैं। इन्हीं सम्बन्धों के द्वारा तीनों प्रकार के अनुमान प्रमाण होते हैं।

सम्बन्धाश्च सप्त-तत्र (१) स्वस्वामिभावसम्बन्धो, यथा राजपुरुषयोः। कदाचित् पुरुषेण राजा, राज्ञा वा पुरुषः। एवं (२)प्रकृति विकारसम्बन्धो, यथा यवसक्त्वोः।(३) कार्यकारणभावसम्बन्धो, यथा धेनुवत्सयोः। (४)पात्रपात्रिकसम्बन्धो, यथा परिवृट्त्रिविष्टब्धयोः[2]।

---

1. गौड़पादभाष्य, सांख्यकारिका, ५। 2. त्रिविष्ट=स्वर्ग।

3. जयमङ्गलाटीका, सांख्यकारिका, ५। इन्हीं सात प्रकार के सम्बन्धोंको वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में लिखा है—

मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिभिः।
स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः साङ्ख्यानां सप्तधानुमा॥

—पृष्ठ १६५, (चौखम्बा संस्करण)

(५) साहचर्यसम्बन्धो, यथा चक्रवाकयोः। (६) प्रतिद्वन्द्विसम्बन्धो, यथा शीतोष्णयोः। तत्रैकस्य भावेऽन्यभावः प्रतीयते। (७) निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धो यथा भोज्यभोजकयोरिति।[1]

अनुमान के भेद—यह अनुमान तीन प्रकार के हैं। इन तीनों की व्याख्या षष्टितन्त्र में की गई है। जिसके आधार पर जयमङ्गला-कार ने लिखा है —

षष्टितन्त्रे व्याख्यातम्-पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टमिति। अतीतानागतवर्तमानास्त्रयः पदार्थाः। तत्र भविष्यदर्थसाधनाय पूर्ववद-नुमानम्। पूर्वं लिङ्गमस्यास्तीति पूर्ववत्। यथोन्नतजलधरं दृष्ट्वा वृष्टि-र्भविष्यतीत्यनुमीयते। अतीतार्थसाधनाय शेषवत् शेषं लिङ्गमस्या-स्तीति। यथास्या नद्या उपरि वृष्टिर्भूता यस्याः कलुषोदकं शेषं लिङ्गमिति। वर्तमानार्थसाधनाय सामान्यतोदृष्टम्। सामान्येन लिङ्ग-लिङ्गिदृष्टत्वात्। यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्ति-र्दृष्टा, तथा सूर्यादीनां सामान्येन देशान्तरप्राप्त्या गतिरनुमीयते।[2]

षष्टितन्त्र नाम के ग्रन्थ में पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यता दृष्ट इन तीन प्रकार के अनुमानों की व्याख्या की गई है। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान ये तीन प्रकार के पदार्थ हैं। उनमें अनागत वस्तु के साधन के लिए जो अनुमान किया जाता है, उसे पूर्ववत्-अनुमान कहते हैं। पहले लिङ्ग हो जिसका, उसे पूर्ववत्-अनुमान कहते हैं। जैसे-उन्नत बादल को देखकर वृष्टि होगी यह पूर्ववत् अनुमान है। अतीत वस्तु के साधन के लिए जो अनुमान किया जाय उसे शेषवत्-अनुमान कहते हैं। शेष अर्थात् अवशेष रह गया है लिङ्ग जिसका, उसे शेषवत अनुमान कहते हैं। जैसे-इस नदी में वृष्टि हुई है, जिस वृष्टि का अवशेष मटमैला पानी लिङ्ग है, उस अतीत वृष्टि का अनुमान शेषवत्

1. जयमङ्गलाटीका, सांख्यकारिका, ५।
2. जयमङ्गलाटीका, सांख्यकारिका, ५

कहलाता है। वर्तमान वस्तु के साधन के लिए जो अनुमान किया जाय वह सामान्यतो दृष्ट अनुमान है। समानता के कारण लिङ्ग और लिङ्गी देखा जाता है। जैसे—देवदत्त के गमनपूर्वक एक देश से दूसरे देश को जाना देखा जाता है। इसी प्रकार उसी समानता के द्वारा सूर्य आदि ग्रहों का एक देश से दूसरे देश में प्राप्त होने से सूर्य आदि में गति है यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान कहा जाता है।

ये तीन शब्द हमें पारिभाषिक मालूम होते हैं। इनका प्रयोग न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, साङ्ख्य, इन सभी दर्शनों में किया गया है। वात्स्यायन से लेकर बाद के सभी टीकाकारों ने इन तीनों शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। वात्स्यायन ने तो 'अथवा' कह कर वैकल्पिक भी अर्थ किया है।[1] इन बातों से ऐसी प्रतीति होती है कि इनका वास्तविक अभिप्राय लुप्त हो गया और पश्चात् विद्वानों ने अपने-अपने पाण्डित्य के आधार पर मनोनुकूल अर्थ किया है।[2] परन्तु इनकी व्याख्या क्लिष्ट कल्पनामात्र मालुम होती है। वाचस्पतिमिश्र ने पूर्ववत् का अर्थ किया है-दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्। दृष्टं स्वलक्षणं (वह्निविशेषः)यस्य वह्नित्वसामान्यविशेषस्य। अर्थात् पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, इस अनुमान में यत्र धूमः तत्र वह्निः इस सामान्य व्याप्ति का एक स्वलक्षण अर्थात् विशेष उदाहरण है—महानस में धूम का वह्नि के साथ होना जो हमारे चक्षु का विषय है। सामान्यतोऽदृष्टम् का अर्थ उन्होंने किया है--अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्। जैसे इन्द्रिय के अनुमान में इन्द्रियत्व सामान्य का एक स्वलक्षण अर्थात् विशेष उदाहरण है इन्द्रियविशेष जो हम लोगों के चक्षु के गोचर नहीं है।

यह व्याख्या समुचित भी नहीं मालूम होती है, क्योंकि सांख्यमत में 'इन्द्रिय' प्रत्यक्षगोचर है, अप्रत्यक्ष नही है।

---

1. न्यायभाष्य, १/१/५।
2. षडदर्शनसमुच्चय, गुणरत्न की टीका पष्ठ ६१-६७।

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि सांख्ययोग में भी अनुमान की अन्य प्रक्रिया न्याय के समान है। इसलिए यहाँ उसका विशेष प्रदर्शन करना आवश्यक नहीं है।

आगम-प्रमाण—राग, द्वेष से रहित यथार्थ वक्ता 'आप्त' कहे जाते हैं। 'वेद' अपौरुषेय होने के कारण राग, द्वेष आदि दोषों से रहित है। अत एव 'वेद' भी 'आप्त' है। आप्तों के उपदेश को 'आप्तवचन' कहते हैं। अथवा आप्तों के अर्थात् ऋषियों के द्वारा प्राप्त श्रुति या वेद एवं वेदमूलक वाक्यों को 'आप्तवचन' कहते हैं। ऐसे उपदेश या वचन को शब्द-प्रमाण कहते हैं।

योग में प्रमाण—यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि योग-दर्शन में भी तीन ही प्रमाण माने जाते हैं। प्रमाण का साधारण लक्षण वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—

अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, तत्करणम् प्रमाणम्।[1] प्रमा अर्थात् पुरुष में अनधिगत तत्त्व के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। इसी ज्ञान से व्यवहार होता है। इस ज्ञान का करण प्रमाण है। इसका विभाग करते हुए पतञ्जलि ने कहा है--प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि[2]। इन प्रमाणों के स्वरूप का निरूपण, जैसा ऊपर किया गया है, सांख्य-दर्शन के समान ही है। इन्हीं तीनों प्रमाणों के द्वारा योग के तत्त्वों का भी यथार्थ ज्ञान होता है। ईश्वर का आगम के द्वारा तथा अनुमान के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है।

अप्रमाणों का निरूपण—प्रमाण वस्तुतः यथार्थ है। इसके विपरीत अप्रमाण हैं। विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति ये चार चित्त की वृत्तियाँ अप्रमाण हैं।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।[3]

---

1. तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र, १/७। 2. योगसूत्र, १/७
3. योगसूत्र, १/८।

अतद्रूप अर्थात् अवास्तवरूप विषय में अर्थात् जो वस्तु वास्तव में नहीं है उसमें प्रतिष्ठित ज्ञान अर्थात् तद्विषयक मिथ्याज्ञान ही विपर्यय है। जैसे-दो चन्द्रों का दर्शन। आकाश में दो चन्द्र का होना प्रमाण द्वारा बाधित होने के कारण मिथ्याज्ञान है।[1]

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।[2]

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च। वस्तुशून्येऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा-चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति।[3]

वस्तु के यथार्थ रूप में न रहने पर भी उस वस्तु के वाचक शब्द के सुनने पर तदनुसार एक प्रकार का अस्फुट ज्ञान चित्त में उदित होता है, उसे ही 'विकल्प' कहते हैं। यह न तो प्रमाण में अन्तर्भूत है और न विपर्यय ही में। जैसे—चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। इस वाक्य में चैतन्य ही तो पुरुष है, फिर चैतन्य पुरुष का स्वरूप है यह कहना व्यर्थ है। परन्तु व्यवहार में ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार 'निष्क्रियः पुरुषः,' 'तिष्ठति बाणः'[4] इत्यादि वस्तु के यथार्थ मे न रहने पर भी शब्द के द्वारा प्रयोग होते हैं।

अभावप्रत्ययालम्बना निद्रा।[5]

जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाओं की वृत्तियों के अभाव का जो प्रत्यय है उसको आलम्बन करनेवाली वृत्ति ही निद्रा है। वस्तुतः इसे सुषुप्ति कहते हैं। यह भी एक प्रकार का प्रत्यय अर्थात् ज्ञान है, क्योंकि सो कर उठने पर उस अवस्था का स्मरण होता है कि 'सुखमहम् अस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः, प्रज्ञां मे विशारदीकरोति' इत्यादि।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।[6]

---

1. योगभाष्य, योगसूत्र, १/८। 2. योगसूत्र, १/९।
3. योगभाष्य, १/९। 4. योगभाष्य, १/९
5. योगसूत्र, १/१०। 6. योगसूत्र, १/११।

अनुभूत विषय का असम्प्रमोष अर्थात् पूर्वानुभूत विषय का तदनुरूप पुनः ज्ञान होना ही स्मृति है। विचारणीय विषय है कि क्या केवल विषय अर्थात् घट का स्मरण होता है या (घट) ज्ञान का? उत्तर में यह जानना चाहिए कि केवल ज्ञान का स्मरण कभी नहीं होता। ग्राह्य वस्तु से उपरक्त जो ज्ञान इन दोनों का एक साथ चित्त में संस्कार उत्पन्न होता है। अत एव तदनुरूप ग्राह्य और ग्रहण इन दोनों से मिश्रित अर्थात् घट का ज्ञान मुझे हुआ इस प्रकार स्मरण होता है। फिर भी स्मरण में घट का और ज्ञान में ग्रहण का प्राधान्य है। यह स्मृति दो प्रकार की होती है—भावितस्मर्तव्या अर्थात् जिसके द्वारा कल्पित विषयों का स्मरण हो। जैसे स्वप्न में, तथा अभावितस्मर्तव्या अर्थात् जिसके द्वारा वास्तविक विषयों का स्मरण हो, जैसे जाग्रत्समय में। अर्थात् स्वप्न में चित्त अनेक कल्पनाओं का स्मरण करता है, किन्तु जाग्रत् अवस्था में कल्पना से रहित शुद्ध विषय का स्मरण होता है। ये सभी वृत्तियां अविद्या हैं। अत एव ये सभी अप्रमाण हैं।

यहाँ इतना और जानना आवश्यक है कि योग का लक्ष्य है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना, जिससे चित्त प्रशान्तरूप में स्थित रहे। इसके लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है। अभ्यास के लिए प्रयत्न करना, शक्ति रखना एवं उत्साह तथा इन सबों के सम्पादन के लिए इच्छा रखना आवश्यक है। इसके लिए ही श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा आदि साधनाओं का सम्पादन आवश्यक है। चित्त की अभिरुचिमती निश्चयवृत्ति को श्रद्धा कहते हैं। यह माता की तरह योगिओं की रक्षा करती है। श्रद्धा से ही वीर्य उत्साह और बल होता है और तभी स्मृति होती है। ऐसा करने से चित्त की प्रशान्त-अवस्था दृढ़ होती है। लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकारके विषयों में तृष्णा को परित्याग करना ही वैराग्य है। ऐसा करने से सभी विषयो में दोष देख पड़ता है और व्यक्त तथा अव्यक्त तत्त्वों के धर्मों में

विरक्ति उत्पन्न होती है। इसके बाद ज्ञान का उदय होता है। विवेक की अभिव्यक्ति होती है। पश्चात् शान्त होकर चित्त समाधिस्थ होता है और तब उसमें प्रज्ञा या विवेक की अभिव्यक्ति होती है। ज्ञान की पराकाष्ठा ही वास्तविक वैराग्य है।[1] वैराग्य होने से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।

समाधि

ध्यान के चरम उत्कर्ष को ही समाधि कहते हैं। चित्त की स्थिरता का यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। ध्यान की अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीन वस्तु होते हैं। ध्यान जब इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि उसके समक्ष केवल ध्येयमात्र देख पड़े अर्थात् ध्यान, ध्याता और ध्येय ये तीनों केवल ध्येयमात्र के स्वरूप में परिणत हो जायँ तब चित्त की उस अवस्था को समाधि कहते हैं। जैसा कहा है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।[2]

सम्प्रज्ञात समाधि—वस्तुतः समाधि ही योग है। चित्त के सार्वभौम धर्म को समाधि कहते हैं (अर्थात् चित्त की सभी अवस्थाओं में समाधि हो सकता है)। क्षिप्र, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध ये पांच चित्त की भूमियाँ अर्थात् अवस्थाएँ हैं। इनमें विक्षिप्त चित्त में उत्पन्न समाधि में सभी विक्षेप संस्कार उपसर्ज्जन या गौणरूप में रहते हैं। इसलिए यह योग के लिए सहायक नहीं होता। किन्तु एकाग्रभूमिक चित्त में समुद्भूत होकर सत्स्वरूप अर्थ को जो समाधि प्रकृष्टरूप में ख्यापित करे, अविद्या आदि पांच क्लेशों को क्षीण करे, कर्मबन्धन को ढीला करे तथा निरोधावस्था को अभिमुख करे, उसे ही सम्प्रज्ञात-योग कहते हैं। यह सम्प्रज्ञात समाधि या योग वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत होता है। चित्त की सभी वृत्तिओं के निरुद्ध

---

1. योगसूत्र तथा भाष्य, १-१२-१६। 2. योगसूत्र तथा भाष्य, ३/३।

होने से जो समाधि होता है उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।[1] इसी को निर्बीज समाधि भी कहते हैं।[2]

सम्प्रज्ञात समाधि के भेद—विषय के भेद से समाधि के वितर्क आदि चार भेद होते हैं। शब्द, अर्थ, ज्ञान तथा विकल्प युक्त चित्तवृत्ति का विषय समाधि में यदि स्थूल हो, तो उसे **वितर्कानुगत** कहते हैं। स्थूलविषयक समाधि में दृढ़ता प्राप्त करने के बाद उस समाधिकालीन अनुभवपूर्वक विचारविशेष के द्वारा सूक्ष्मतत्त्व का जो ज्ञान होता है, उसे ही **विचारानुगत** कहते हैं। इस अवस्था में ग्राह्य और ग्रहण दोनों सूक्ष्म हैं। इसमें वितर्क नहीं है। इस अवस्था में प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पांच तन्मात्रारूप सूक्ष्म अर्थ चित्त के विषय होते हैं। उसी आलम्बन में विचारानुगत अवस्था को प्राप्त चित्त में सत्त्वगुण के आधिक्य से जो आनन्द का अनुभव होता है, उसे ही **आनन्दानुगत** कहते हैं। इसी अवस्था का वर्णन गीता में किया गया है[3]—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्॥

एकमात्र अहम् वस्तु जिस चित्त का आलम्बन हो अर्थात् केवल पुरुषाकार चित्त के साक्षात् ज्ञान को **अस्मिता** कहते हैं। इस अवस्था में अस्मि इतनी ही संवित् होती है। यह जीवात्मविषया

---

1. योगसूत्र तथा भाष्य, १/१ 2. योगभाष्य, १/२।
3. भगवद्गीता, ६/२१-२३।

अथवा परमात्मविषया संवित् नहीं होती है। इस अवस्था के निरोध को अस्मितानुगत कहते हैं। इन चार भेदों में चित्त का आलम्बन रहता है।[1]

असम्प्रज्ञात समाधि—सभी वृत्तियों के अस्त हो जाने पर केवल संस्कारमात्र जब शेष रह जाता है उस अवस्था के चित्त की समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसकी प्राप्ति परम वैराग्य से होती है। इसमें आलम्बन-रूप में कोई अर्थ नहीं रहता, केवल संस्कारमात्र रहता है। निरालम्बन की तरह चित्त रहता है।[2]

प्रमाणों की उपयोगिता—इस प्रकार प्रमाणों का निरूपण कर साङ्ख्य-दर्शन में उनकी उपयोगिता का विचार आवश्यक है। प्रमाणों की उपयोगिता तत्त्वों के ज्ञान के लिए है, अत एव तत्त्वों का निरूपण यहाँ पहले किया जाता है।

प्रमेयों के ज्ञान के लिए ही प्रमाणों की आवश्यकता है। साङ्ख्य में व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ ये तीन ही प्रमेय हैं। अब विचार करना है कि किस प्रमाण से किस प्रमेय की सिद्धि होती है। इसके सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

> सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
> तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥[3]

इदानीं प्रमाणत्रयविषयानाह—सामान्यतस्त्विति। सामान्यत इति षष्ठ्यन्तात् तसिः। तथा चेन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्यापेक्षितस्याऽनपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेव सिद्धः।

अतीन्द्रियाणां प्रकृत्यादीनां सिद्धिरनुमानात्, यथा महत्तत्त्वं सकारणकं कार्यत्वाद् घटवदिति, कारणान्तरबाधात् प्रकृतिसिद्धिः। न च पुरुष एव जनकोऽस्तु तस्यापरिणामित्वेनाजनकत्वात्।

1. योगसूत्र तथा भाष्य, १/१७। 2. योगसूत्र तथा भाष्य, १/१८। 3. सांख्यकारिका, ६।

तस्मादपि परोक्षमतीन्द्रियम् आप्तागमात् ।[1]

व्यक्तम् प्रत्यक्षसाध्यम् ।[2]

'सामान्यतः' इत्यादि कारिका के द्वारा तीनों प्रमाणों के विषयों का निरूपण किया गया है। 'सामान्यतः' इस शब्द में 'सामान्यस्य' इस षष्ठ्यन्त के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय लगा है। इसलिए सामान्य अर्थात् साधारण प्रत्यक्षयोग्य सभी वस्तु का ज्ञान दृष्ट (=प्रत्यक्ष) प्रमाण से होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-साध्य सभी व्यक्तों का अर्थात् महत् आदि तेइस व्यक्तों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। प्रत्यक्ष के अयोग्य अतीन्द्रियों का अर्थात् प्रकृति (=अव्यक्त) तथा बद्ध पुरुषों का ज्ञान अनुमान से होता है। अनुमान से भी जिस परोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय वस्तु की प्रतीति नहीं होती, उसका अर्थात् ज्ञ का ज्ञान आप्तागम से होता है।

साङ्ख्य में बुद्धि ही के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इसलिए सभी व्यक्त प्रत्यक्षसाध्य हैं। महत् आदि व्यक्त प्रकृति के कार्य हैं इसलिए कार्य से कारण का शेषवत् अनुमान के द्वारा ज्ञान होता है। बद्ध-पुरुषों का भी ज्ञान 'संघातपरार्थत्वात्'[3] तथा 'जननमरणकरणानाम् प्रतिनियमात्'[4] इत्यादि लिङ्गों के द्वारा अनुमान से होता है। इस प्रकार 'व्यक्त' का प्रत्यक्ष से, 'अव्यक्त' का अनुमान से यथा 'ज्ञ' का आगम से ज्ञान होता है। तीन ही प्रमाणों से तीन प्रकार के प्रमेयों की सिद्धि हो जाने के कारण साङ्ख्य के आचार्यों ने तीन ही प्रमाण स्वीकार किये हैं।

व्यक्तों का ज्ञान तो प्रत्यक्ष से होता है। प्रत्यक्ष से जिनकी सिद्धि हो, उनके अस्तित्व में तो कभी भी सन्देह नहीं होता। परन्तु जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता, उनके अस्तित्व में सन्देह रहता है। इसलिए

---

1. नारायणकृतचन्द्रिका, सांख्यकारिका, ६। 2. गौड़पादभाष्य, सांख्यकारिका, ६, व्यक्तं तु प्रत्यक्षेणैव साधितम्—माठरवृत्ति, सांख्यकारिका, ६। 3. साङ्ख्यकारिका, १७। 4. साङ्ख्यकारिका, १८।

ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति तथा बद्धपुरुष इन दोनों की सिद्धि की प्रणाली निम्नलिखित कारिकाओं में दिखायी है—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥[1]

बहुत ही सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति (=अव्यक्त) की प्रत्यक्ष प्रमाण से उपलब्धि नहीं होती, न कि उसके अस्तित्व के अभाव के कारण। (उसके) कार्यों के द्वारा उसकी उपलब्धि होती है। महत् आदि (तेईस व्यक्त) उसके कार्य हैं। कार्य बिना कारण के हो नहीं सकते, अत एव इन कार्यों का एक कोई कारण अवश्य है, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा नहीं जाना जाता।[2] अतः शेषवत् अनुमान से प्रकृति की प्रतीति होती है।

वाचस्पतिमिश्र आदि कतिपय टीकाकारों ने व्यक्तों में से कुछ को (=पंचभूतों को) प्रत्यक्ष माना और कुछ को (=महत् से लेकर तन्मात्रा पर्यन्त को) अनुमेय माना है। परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। इसके अनेक कारण हैं। एक कारण यह भी है कि किसी भी व्यक्त की सिद्धि के लिए ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिका में युक्ति नहीं दी है। जो प्रत्यक्ष-सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए चेष्टा करना व्यर्थ है। किन्तु जो प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं है, उसीके अस्तित्व में सन्देह उत्पन्न होता है और इसीलिए उसकी सिद्धि के लिए कारिकाओं में युक्तियां दी गई हैं। इस प्रथा के अनुसार भी यह सिद्ध है कि व्यक्तों का प्रत्यक्ष ही होता है। अत एव इन्हें व्यक्त कहा है। तभी तो गौड़पाद ने भी कहा है—व्यक्तम् प्रत्यक्षसाध्यम्। माठर ने भी कहा है—व्यक्तं तु प्रत्यक्षेणैव साधितमिति तदर्थे न प्रयत्नः।

---

1. साङ्ख्यकारिका, ८। 2. सांख्यसूत्र, १/१०६।

तत्त्व और उनके धर्म

यद्यपि सभी व्यक्त प्रत्यक्षसिद्ध हैं, इनकी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है तथापि इनके स्वरूप का पूर्ण परिचय देना आवश्यक है। अत एव ईश्वरकृष्ण ने इनके धर्म का निरूपण करते हुए कहा है—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तम् (विपरीतमव्यक्तम्)॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तम् (तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्)॥[1]

हेतुमत्—महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जो तेईस व्यक्त हैं, उनमें प्रत्येक व्यक्त का एक कोई कारण है जिससे वह आविर्भूत होता है। अनित्यम्--ये प्रत्येक अनित्य हैं, अर्थात् अपने स्वरूप को अपने कारण में तिरोभूत करते हैं। ये स्थिर नहीं हैं किन्तु परिवर्तनशील हैं। अव्यापी—व्यापक अर्थात् सर्वत्र विभु के रूप में रहनेवाले ये नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्त में विषमरूप में रजोगुण रहता है। रजोगुण सतत चलायमान है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्त में वैषम्य उत्पन्न करनेवाली क्रिया रहती है, जिसका स्थूल रूप से भान होता है। अत एव सभी व्यक्त सक्रिय हैं। प्रत्येक व्यक्त अनेक है। संसार में जितने जीव या वस्तु हैं उतने व्यक्त हैं। अत एव महत्, अहङ्कार आदि सभी अनेक हैं। गौड़पाद, जयमङ्गलाकार आदि टीकाकारों का अर्थ यहां संगत नहीं है। आश्रितम्—प्रत्येक व्यक्त अपने कारण में आश्रित है। लिङ्गम्—लय की दशा में प्रत्येक व्यक्त अपने कारण में लय को प्राप्त हो जाता है। अथवा कार्यरूप होने के कारण प्रत्येक व्यक्त अपने कारण का लिङ्ग हो सकता है। इसीलिए यह लिङ्ग कहलाता है। सावयवम्—'ज्ञ' को छोड़कर सभी तत्त्वों में सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये

1. सांख्यकारिका, १०-११।

तीनों गुण रहते हैं। अव्यक्त अर्थात् मूला प्रकृति में साम्यावस्था में, किन्तु व्यक्तों में विषम अवस्था में ये गुण रहते हैं। अत एव इनके प्रत्येक के स्वभाव का व्यक्तावस्था में अलग-अलग भान होता है। इसीलिए ये व्यक्त सावयव कहे जाते हैं। **परतन्त्रम्**—प्रत्येक व्यक्त अपने अस्तित्व के लिए अपने कारण पर निर्भर है। अत एव यह **परतन्त्र** है।

त्रिगुणम्—सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण व्यक्त में हैं। इसलिए ये त्रिगुण हैं। **अविवेकि**—मूला प्रकृति जड़ है। 'व्यक्त' मूला प्रकृति का कार्य है। अत एव यह भी जड़ है। इसीलिए इसमें एक से दूसरे को विभक्त करने की विवेक शक्ति नहीं है। अत एव ये व्यक्त **अविवेकि** हैं॥ विषयः—ये व्यक्त ज्ञान के विषय हैं, सभी पुरुष के भोग्य हैं। अत एव ज्ञान से भिन्न हैं। ये **सामान्य** हैं अर्थात् सकल साधारण पुरुष के लिए समान हैं। **अचेतनम्**—ये चेतन 'ज्ञ' से भिन्न हैं और जड़ हैं। प्रसवधर्मि—यद्यपि किसी को उत्पन्न करने की योग्यता को टीकाकारों ने 'प्रसवधर्मित्व' कहा है, किन्तु ग्यारह इन्द्रियों में तथा पांच भूतों में दूसरों को उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है। अत एव 'सरूप', या 'विरूप', या दोनों प्रकार के परिणामों से युक्त रहने की योग्यता को **'प्रसवधर्मित्व'** कहना उचित है। इस प्रकार सभी व्यक्त **'प्रसवधर्मि'** हैं।

व्यक्तों के साधारण धर्म समष्टिरूप में कहे गये हैं। अब प्रत्येक व्यक्त का व्यष्टिरूप में भी यहां विशेष परिचय देना आवश्यक है।

बुद्धि—प्रकृति में पुरुष के बिम्ब के पड़ने से जब 'क्षोभ' उत्पन्न होता है, तब उसके सात्त्विक अंश से जो परिणाम होता है, उसे ही 'बुद्धि' कहते हैं। इसे 'महत्' भी कहते हैं। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है—

'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमेतद्विपर्यस्तम्॥'[1]

---

1. सांख्यकारिका, २३।

बुद्धि का अध्यवसायात्मक या निश्चयात्मक स्वरूप है। किसी अनुभव में निश्चयात्मक जो अंश है, जैसे-'यह तन्मात्रा है', 'यह पृथ्वी है' इत्यादि, वही बुद्धि है।

बुद्धि का स्वरूप—सांख्य में सत्त्व, रजस और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था 'प्रकृति' है। इसलिए प्रकृति के जितने कार्य हैं उन सबों में ये तीनों गुण किसी न किसी मात्रा में रहते हैं और उसी के अनुसार कार्यों का स्वरूप भी होता है। अत एव 'बुद्धि' के दो प्रकार के स्वरूप हैं—सात्त्विक तथा तामसिक। प्रत्येक जीव में जो धर्म[1], ज्ञान,[2] वैराग्य[3] तथा ऐश्वर्य[4] हैं, वे 'बुद्धि' के सात्त्विक रूप हैं, एवं जो अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य[5] तथा अनैश्वर्य हैं, वे उसके तामस रूप हैं। ये आठ बुद्धि के धर्म हैं। इन्हें 'भाव' भी कहते हैं।

---

1. गङ्गास्नान से, देवपूजन से तथा अष्टाङ्गयोग के साधनजन्य जो फल उत्पन्न हो वही धर्म है।
2. आत्मसाक्षात्कार, या पुरुष-प्रकृति-विवेक ज्ञान है।
3. संसार के विषय, शरीर, इन्द्रिय, आदि से तथा स्वर्ग के विविध सुखों से विरक्ति वैराग्य है। पतञ्जलि ने भी यही कहा है-दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् (१/१५)। इसके चार भेद हैं। यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार। इसके अतिरिक्त एक परवैराग्य है, जिसे पतञ्जलि ने कहा है—तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् (१/१६)। इसी को एक प्रकार से 'धर्ममेघ' भी कहते हैं। वस्तुतः ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य है।
4. ऐश्वर्य—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व तथा यत्रकामावसायित्व इन आठ सिद्धियों की प्राप्ति।
5. विषयतृष्णा।

अहङ्कार का स्वरूप—

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
ऐन्द्रियक एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥[1]
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥[2]

बुद्धितत्त्व के तमोगुण तथा रजोगुण से अहङ्कार की अभिव्यक्ति होती है। जीव में जो अभिमान है, अहंभाव है, अपनापन है, जैसे—'मैं ही यह करूँगा', 'मुझे ही सब ज्ञान प्राप्त है', 'मेरी ही पुस्तक' इत्यादि अनुभूतियों में जो अहंप्रतीति है, वही 'अहङ्कार' है।

ग्यारह इन्द्रियों का स्वरूप— अहङ्कार में भी सत्त्व, रजस् और तमस् हैं। अहङ्कार के सात्त्विक अंश से, जिसे वैकृत-अहङ्कार कहते हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा मनस् ये ग्यारह तत्त्व उत्पन्न होते हैं एवं उसके तामस अंश से, जिसे भूतादि-अहङ्कार कहते हैं, शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है। उसका रजस् अंश, जिसे तैजस-अहङ्कार कहते हैं, वैकृत तथा भूतादि अहङ्कार के दोनों अंशों को तत्त्वों की अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करता है।

दश इन्द्रियां और उनके स्वरूप निम्नलिखित है—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यकर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥[3]
बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥
शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्ति।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥[5]

1. सांख्यकारिका, २४। 2. सांख्यकारिका, २५। 3. सांख्यकारिका, २६। कर्मेन्द्रियों का स्पष्टरूप से प्रतिपादन न्याय-वैशेषिक में नहीं है। मालूम होता है कि सब से पहले सांख्य ही में इनका उल्लेख किया गया है। 4. सांख्यकारिका, ३४। 5. सांख्यकारिका, २८।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श इनके विषय हैं और इन्हें ये प्रकाश में लाती हैं। ये इन्द्रियां प्रकाशमात्र देने वाली हैं (प्रकाशकरम्) श्रोत्रादीनि हि विषयस्य प्रकाशनमात्रं कुर्वन्ति।[1] ये सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के विषयों को प्रकाश में लाती हैं अर्थात् इनके द्वारा सूक्ष्म शब्द आदि पांच तन्मात्राएं तथा स्थूल आकाश आदि पाँच भूत जिनमें शब्द, स्पर्श, रूप आदि स्थूलरूप में अभिव्यक्त हैं, प्रकाशित होते हैं।

वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। ये नाना प्रकार के व्यापार करती हैं। जैसे 'वाक्' इन्द्रिय बोलने का व्यापार करती है। दोनों हाथ लेने-देने आदि का व्यापार करते हैं। दोनों पैर गमनागमन का व्यापार करते हैं। 'पायु' मलत्याग का व्यापार करता है। 'उपस्थ' सन्तति उत्पन्न कर आनन्द प्राप्त करने का व्यापार करता है। ये कर्मेन्द्रियाँ आहरणरूप कार्य करती हैं। इनमें वाक्-इन्द्रिय का एकमात्र विषय है 'शब्द'। अन्य चारों के विषय हैं— शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच।

मनस् ग्यारहवां इन्द्रिय है—

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥[2]

बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के कार्य में मन साहाय्य देता है। बुद्धीन्द्रियों के व्यापार में बुद्धीन्द्रियों के समान तथा कर्मेन्द्रियों के व्यापार में कर्मेन्द्रियों के समान व्यापार करता हुआ मन सम्यक् कल्पना करता

---

1. जयमङ्गला २८। आलोचनं=प्रकाशनमात्रम्।
2. सांख्यकारिका, २७।

है। इसलिए इसे उभयात्मक कहते हैं। अन्य इन्द्रियों के साथ समानता रखने के कारण इसे भी इन्द्रिय कहते हैं अर्थात् अन्य दस इन्द्रियों की तरह यह भी अहङ्कार के सात्त्विक अंश से अभिव्यक्त होता है। यही इन सबों में साधर्म्य है।

ये ग्यारह इन्द्रियाँ यद्यपि अहङ्कार के सात्त्विक अंश से ही अभिव्यक्त होती हैं फिर भी प्रत्येक का व्यापार भिन्न है, क्योंकि प्रधानतया अहङ्कार के सात्त्विक अंश से अभिव्यक्त होने पर भी इन इन्द्रियों की अभिव्यक्ति में तमस् और रजस् का भी साहाय्य रहता ही है। ये तीनों एक साथ मिलकर ही कार्य करते हैं, एक के बिना दूसरा नहीं रहता। इसलिए इनके सदा परिणामशील होने के कारण प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक परिणाम में कुछ न कुछ वैशिष्ट्य रहता ही है। इस बात को स्पष्ट करते हुए जयमङ्गलाकार ने लिखा है—

अहङ्कारस्था ये गुणाः सत्त्वादयस्तेषामन्योन्याभिभवाश्रयादि—द्वारेण यः परिणामविशेषस्तत एवैषां नानात्वम्। त एव हि गुणाः परिणामविशिष्टा इन्द्रियव्यपदेशभाजो नानाविषया भवन्ति।

अहङ्कार में विद्यमान सत्त्व आदि जो तीन गुण हैं उनमें परस्पर अभिभव, आश्रयाश्रयिभाव आदि के कारण जो भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, उन्हीं से इन इन्द्रियों में नानात्व है। परिणामवैचित्र्य से युक्त ये ही गुण इन्द्रिय कहे जाते हैं और इनके पृथक्-पृथक् शब्द आदि तथा वाक् आदि भिन्न-भिन्न विषय हैं।

परिणाम प्रत्येक क्षण में होता है और अनेक वैचित्र्यों को अभिव्यक्त करता रहता है। अत एव गुणों के इन्हीं परिणामों के भेद से इनके बाह्यस्वरूप में भी भेद है। कुछ टीकाकारों ने 'बाह्यभेदाश्च' के स्थान पर 'ग्राह्यभेदाच्च' पाठ[2] स्वीकार किया है। उनका कहना है—

1. जयमङ्गला, साङ्ख्यकारिका, २७। 2. माठरवृत्ति, २७।

ग्राह्या एकादशेन्द्रियार्थास्तेषां भेदादपीन्द्रियाणां भेदः ।[1] अर्थात् ग्यारह इन्द्रियों के ग्यारह प्रकार के ग्राह्य विषय हैं। इनमें परस्पर भेद होने के कारण इन्द्रियां नाना हैं।

परन्तु तत्त्वों की अभिव्यक्ति के क्रम में ग्यारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति के पश्चात् उनके विषयों की अभिव्यक्ति होती है। अत एव विषयों के भेद के कारण इन्द्रियों में, जिनकी अभिव्यक्ति पहले हो चुकी है, नानात्व नहीं हो सकता। अत एव उपर्युक्त पाठ भेद समुचित नहीं है। इस प्रकार मिलकर सांख्य में तेरह करण होते हैं। जैसा कहा है—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥
अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥[2]

तेरह करण हैं। इनमें पांच बुद्धीन्द्रियाँ प्रकाशरूप व्यापार करती हैं, पांच कर्मेन्द्रियां आहरणरूप व्यापार करती हैं तथा बुद्धि, अहङ्कार और मनस् ये तीन अन्तःकरण धारणरूप व्यापार करते रहते हैं।

प्रत्येक व्यापार में अहङ्कार और मनस् के साथ बुद्धि भी रहती है—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।[3]

अत एव ये तीनों अन्तःकरण सभी व्यापार में विद्यमान रहते हैं। अतः दस इन्द्रियों के दस भिन्न-भिन्न कार्य हैं। बुद्धीन्द्रियों के शब्द आदि पाँच तथा वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों के वचन आदि पाँच व्यापार हैं।

अन्तःकरण तीन हैं और बाह्यकरण दस हैं। ये दस बाह्यकरण

---

1. माठरवृत्ति, सांख्यकारिका, २७। 2. सांख्यकारिका, ३२-३३। 3. सांख्यकारिका, ३५।

तीनों अन्तःकरणों के भी विषय हैं अर्थात् इन दसों के द्वार से तीनों अन्तः-करण अपना व्यापार करते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण के दो व्यापार हैं— धारण तथा सभी विषयों का अवगाहन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना। बाह्यकरण के व्यापार के लिए विषयों की विद्यमानता आवश्यक है, किन्तु अन्तःकरणों के लिए अतीत, अनागत तथा वर्तमान तीनों काल में रहनेवाली वस्तु विषय होते हैं। तीनों अन्तःकरण द्वारि हैं और दस बाह्यकरण द्वार हैं। साक्षात् या परम्परया दस बाह्यकरणों के द्वार ही से अन्तःकरण विषयों का अवगाहन करते हैं।[1]

बुद्धि की विशेषता—इन सभी तेरह करणों में बुद्धि ही सबसे विशेष महत्त्व की है। इसकी विशेषता दिखाते हुए आचार्य ने कहा है—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥[2]

सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के ही परिणाम ये तेरह करण हैं। ये परस्पर भिन्न-स्वरूप के हैं तथापि मिलकर अपने-अपने व्यापार से शब्द आदि सूक्ष्म तथा आकाश आदि स्थूल विषयों को प्रकाशित करते हैं, जिस प्रकार प्रदीप में रूई की बत्ती, तेल तथा अग्नि ये परस्पर भिन्न स्वरूप के होते हुए भी मिलकर प्रकाश देते हैं। इसलिए इन करणों को प्रदीप के समान आचार्य ने कहा है। ये विषयों का प्रकाशन कर अपनी अनुभूति को बुद्धि में समर्पित करते हैं। उन विषयों की अनुभूति से उपरक्त बुद्धि में अर्थात् विषय के आकार से आकारित बुद्धि में बद्ध-पुरुष उन विषयों से सुख, दुःख तथा मोह को प्राप्त करता है। इसीलिए कहा है--बुद्ध्याऽवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते।[3] अर्थात् बुद्धि के

1. चन्द्रिका, सांख्यकारिका, ३५। 2. सांख्यकारिका, ३६-३७।
3. जयमंगला, सांख्यकारिका, ३६।

द्वारा निश्चित विषय को बद्ध-पुरुष अनुभव करता है। भोक्ता बद्ध-पुरुष है और भोग का स्थान है बुद्धि। इसलिए सभी विषयों का भोग बुद्धि ही में होता है। बद्ध-पुरुष के भोग के लिए बुद्धि ही सब कुछ सम्पादन करती है और वहां बुद्धि 'पुरुष से प्रकृति पृथक् है' ऐसी विवेक-पूर्ण अनुभूति उत्पन्न करती है। अभिप्राय यह है कि तमोगुण के आधिक्य से युक्त बुद्धि भोग का सम्पादन करती है, किन्तु सत्त्वगुण के आधिक्य से विशिष्ट होने पर ज्ञान-संगत होने के कारण 'प्रकृति भिन्न है तथा पुरुष भिन्न है' यह सूक्ष्म विवेक-अनुभूति उत्पन्न करती है।

पञ्चतन्मात्राओं का निरूपण—अहङ्कार से शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा ये पांच तन्मात्राएँ, क्रमशः अभिव्यक्त होती हैं। तदेव इति तन्मात्रम् अर्थात् केवल 'वही', अन्य कुछ नहीं। अर्थात् केवल शब्द, केवल स्पर्श, केवल रूप, केवल रस तथा केवल गन्ध। इसीलिए इसे अविशेष[1], या सूक्ष्म, या सूक्ष्मभूत भी ज्ञानी लोग कहते हैं। अहङ्कार के तामस अंश से ये पांच तन्मात्राएं अभिव्यक्त होती हैं, जैसा पहले भी कहा है।[2]

अहङ्कार और स्थूल भूतों के मध्य में सृष्टि के विकास की एक विशेष अवस्था तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति की है। परिणाम क्रमिक होता है। सृष्टि का विकास भी क्रमिक ही होगा। प्रत्येक अभिव्यक्ति के स्वरूप का निरूपण करना आवश्यक है। ऐसा करने ही से सृष्टि तथा ज्ञान के विकास में क्रम एवं तारतम्य दिखाये जा सकते हैं। इसलिए तन्मात्राओं की अवस्था में सूक्ष्मरूप में भोग की सभी अनुभूतियां हैं, किन्तु वे इस स्वरूप में व्यक्तोन्मुख हैं, व्यक्त नहीं हो सकते। इनमें प्रत्येक में सत्त्व, रजस् और तमस् तारतम्य के भेद के अनुसार विद्यमान हैं।

पञ्चभूतों का निरूपण—इन पांच तन्मात्राओं से क्रमशः पांच भूतों की अभिव्यक्ति होती है—

1. तन्मात्राण्यविशेषाः-सांख्यकारिका, ३८। 2. सांख्यकारिका, २५।

पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।[1]

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।

एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥[2]

किं च पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि । तस्मात् षोडशकाद् गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महाभूतानि उत्पद्यन्ते । यदुक्तम्-शब्दतन्मात्राद् आकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्राद् आपः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी । एवं पञ्चभ्यः पञ्च महाभूतानि उत्पद्यन्ते ।[3]

पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की अभिव्यक्ति होती है। तन्मात्राएं अविशेष अर्थात् सूक्ष्म हैं, किसी धर्म से व्यक्तरूप में सम्पन्न नहीं हैं। इन पांचों से (क्रम से) पांच भूत अभिव्यक्त होते हैं। ये पाँचभूत 'विशेष' अर्थात् स्थूल हैं, इसीलिए इनमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की स्थूलरूप में अभिव्यक्ति होती है। अत एव ये शान्त या सुख देनेवाले, घोर या दुःख देनेवाले तथा मूढ या मोह देनेवाले हैं।

अहङ्कार से अभिव्यक्त होने वाले सोलह तत्त्वों में से पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं, जैसे कहा गया है—शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से वायु, रूपतन्मात्र से तेज, रसतन्मात्र से जल, एवं गन्धतन्मात्र से पृथिवी इस प्रकार पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है।

यहां यह कह देना आवश्यक है, जैसा पहले भी कहा गया है, कि सृष्टि का विकास क्रमिक है। प्रत्येक विकसित अवस्था का एक अपना विलक्षण स्वरूप है। ज्ञानियों को इन बातों की साक्षात् अनुभूति भी होती है। साथ ही साथ तर्क तथा आगम भी इन्हें पुष्ट करते हैं। आगम, तर्क तथा साक्षात् अनुभूति इन तीनों के सामञ्जस्य से ही हम किसी विषय का निर्णय करते हैं तथा किसी सिद्धान्त पर पहुंचते हैं। इन

---

1. सांख्यकारिका, २२ । 2. सांख्यकारिका, ३८ । 3. गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, २२, ३८ ।

तीनों साधनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकरण के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। सांख्य के पांच तन्मात्राओं से क्रमिक विकास के सम्बन्ध में प्राय: सभी टीकाकारों ने तत्त्वों के स्वरूप की तरफ उचित ध्यान नहीं दिया। अत एव उनकी प्रक्रिया में बहुत भेद हैं, और वह युक्तिसंगत भी नहीं मालूम होता है।

विद्वानों को मालूम है कि वेदान्त में सृष्टि के विकास के लिए 'तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन: आकाश: सम्भूत:। आकाशाद् वायु:, वायोरग्नि: अग्नेराप:, अद्भ्य: पृथिवी'[1] इत्यादि उपनिषद् के वाक्य आधार माने गये हैं। इसके अनुसार आकाश में शब्द गुण है और आकाश से जब वायु की अभिव्यक्ति होती है तो वायु में उसके कारण अर्थात् आकाश का गुण अर्थात् शब्द भी अभिव्यक्त होता है। अत एव वायु में शब्द और स्पर्श, एवं क्रमेण अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप, जल में शब्द स्पर्श, रूप तथा रस एवं पृथिवी में शब्द आदि पांच गुणों की, अभिव्यक्ति होती है। किन्तु सांख्य ने सृष्टि के विकास के लिए उपर्युक्त श्रुति को आधार नहीं माना है। यह अनेक कारणों से सिद्ध है। गौड़पाद ने नहीं माना है, यह तो ऊपर कहा हो गया है। यहां अभिव्यक्ति का क्रम-सर्वथा भिन्न है। अहङ्कार से क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति पृथक्-पृथक् और स्वतन्त्ररूप में होती है तथा भिन्न-भिन्न तन्मात्रा से पृथक्-पृथक् और स्वतन्त्ररूप में पांच भूतों की अभिव्यक्ति होती है। तन्मात्राओं में अभिव्यक्ति के अवसर पर परस्पर कहीं भी सम्बन्ध नहीं होता जिससे एक तन्मात्रा का प्रभाव या धर्म दूसरे तन्मात्रा पर पड़ सके। यह अभिव्यक्ति एक प्रकार से व्यष्टिरूप में होती है, समष्टिरूप में नहीं।

यदि 'पंचभ्य: पञ्च भूतानि'[2] का अर्थ किया जाय कि पाँच तन्मात्राओं से (समष्टिरूप में) पांच भूतों की अभिव्यक्ति होती है, तब प्रत्येक भूत में शब्द आदि पांच गुणों का होना आवश्यक हो जायगा।

1. तैत्तिरीय उपनिषद्, २/१। २. सांख्यकारिका, २२।

जैसा पञ्चीकृत भूतों में वेदान्तदर्शन में स्वीकार किया गया है। परन्तु सांख्य में तो ऐसा किसी ने स्वीकार नहीं किया। अत एव गौड़पाद के अतिरिक्त किसी भी टीकाकार की व्याख्या युक्तिसंगत नहीं मालूम होती।

इसी बातको अन्य प्रकार से नारायणतीर्थ ने अपनी टीका में कही है—

अहङ्कारादेव पञ्च महाभूतानि भवन्त्विति तु न वक्तुं शक्यं शब्दादिगुणकानां तेषाम् अहङ्कारत उत्पत्तेरसंभवात्, अहङ्कारस्य शब्दाद्यभावात्। न चाहङ्कारस्य पञ्चगुणवत्त्वे मानमस्ति। तथा सति आकाशादीनां पञ्चानामेव पञ्चगुणवत्त्वं स्यात्।[1]

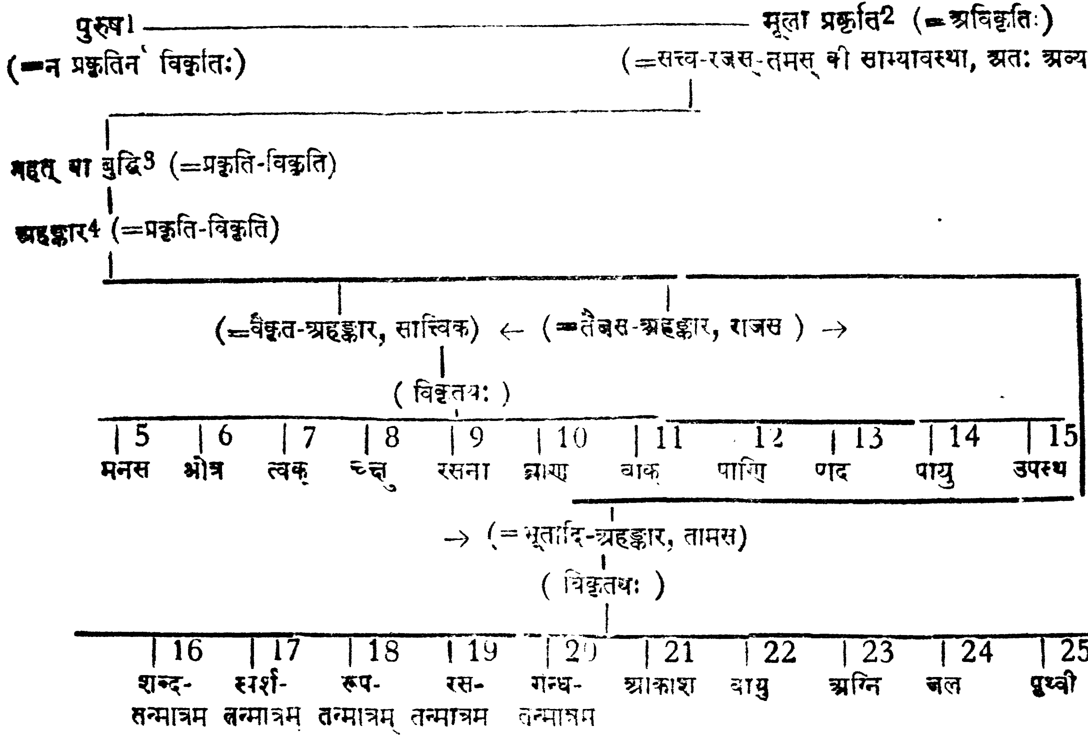
अहङ्कार ही से पांच महाभूतों की साक्षात् अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि क्रमशः शब्द आदि धर्मों से युक्त पांच भूत साक्षात् अहङ्कार में नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो आकाश आदि प्रत्येक में शब्द आदि पांच धर्म होते, किन्तु ऐसा नहीं है। इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है कि अभिव्यक्ति में क्रम है और शब्द आदि तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति पृथक्-पृथक् तथा स्वतन्त्ररूप में होती है एवं पांच भूतों की भी अभिव्यक्ति स्वतन्त्ररूप में पृथक्-पृथक् होती है तथा प्रत्येक भूत में एक ही एक असाधारण धर्म है।

तत्त्वों की अभिव्यक्ति का क्रम—इस प्रकार तेईस व्यक्तों की क्रमशः मूला प्रकृति से अभिव्यक्ति होती है और ये सभी बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्षगोचर हैं। नीचे इनकी अभिव्यक्ति के क्रम को स्पष्ट करने के लिए एक मानचित्र दिया जाता है[2]—

---

1. सांख्यकारिका, चन्द्रिका, २२।

2. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः—सांख्यकारिका, ३।


पुरुष1
(=न प्रकृतिर्न विकृतिः)
मूला प्रकृति2 (=अविकृतिः)
(=सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था, अतः अव्यक्त)
महत् या बुद्धि3 (=प्रकृति-विकृति)
अहङ्कार4 (=प्रकृति-विकृति)
(=वैकृत-अहङ्कार, सात्त्विक) ← (=तैजस-अहङ्कार, राजस) →
(विकृतयः)
5 मनस
6 श्रोत्र
7 त्वक्
8 चक्षु
9 रसना
10 घ्राण
11 वाक्
12 पाणि
13 पाद
14 पायु
15 उपस्थ
→ (=भूतादि-अहङ्कार, तामस)
(विकृतयः)
16 शब्द-तन्मात्रम्
17 स्पर्श-तन्मात्रम्
18 रूप-तन्मात्रम्
19 रस-तन्मात्रम्
20 गन्ध-तन्मात्रम्
21 आकाश
22 वायु
23 अग्नि
24 जल
25 पृथ्वी

सांख्य में ईश्वर का स्थान नहीं—यह हुआ सांख्य के तत्त्वों का निरूपण। सांख्य में 'ईश्वर' की कोई आवश्यकता नहीं है। न्याय-वैशेषिक में सृष्टि के लिए प्रलयकालिक परमाणुओं में आरम्भकसंयोग उत्पन्न करने के लिए क्रिया उत्पन्न करना आवश्यक है। यह क्रिया ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होती है। सांख्य में प्रकृति से सृष्टि होती है। प्रकृति में सतत चलायमान रजोगुण है। उसी से स्वभावतः क्रिया होती ही रहती है और क्रमशः तत्त्वों का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। ईश्वर का कोई भी प्रयोजन नहीं है। अत एव सांख्यदर्शन को निरीश्वर-सांख्य कहा जाता है। किन्तु 'प्रकृति' में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए 'ज्ञ' के बिम्ब का प्रयोजन है।

योगदर्शन में ईश्वर—योगदर्शन में सांख्य के पचीस तत्त्व स्वीकृत हैं। इनके अतिरिक्त एक और तत्त्व पतञ्जलि ने माना है। वह है ईश्वर। चित्तवृत्ति का निरोध योग का लक्ष्य है। इसके लिए चित्त को समाधि में दृढ़ करना परम आवश्यक है। समाधि में सफलता प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय हैं। उनमें एक है—ईश्वर का प्रणिधान। भाष्य में कहा है—

किमेतस्मादेव आसन्नतमः समाधिर्भवति ? अथ अस्य लाभे भवति अन्योऽपि कश्चिदुपायो न वा इति—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति इति।

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नाम इति।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥

अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यो हि अनेन भोगेन

अपरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। स तु सदैव मुक्तः सदैव ईश्वर इति। यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः। स च पुरुषविशेष इति।

स सर्वज्ञः। यत्र काष्ठाप्राप्तिः ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति।[1]

तस्य वाचकः प्रणवः।[2]

तज्जपस्तदर्थभावनम्।[3]

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ इति[4]

क्या इसी अधिमात्रतीव्रसंवेग से ही आसन्नतम समाधि होती है या इसकी प्राप्ति के लिए अन्य भी कोई उपाय है? समाधान में पतञ्जलि ने कहा है—भक्तिविशेष से अभिमुखरूप में आकर्षित ईश्वर-विशेष इच्छामात्र से साधक के ऊपर अनुग्रह करते हैं। ईश्वर के 'अभिध्यानमात्र' से भी योगियों को समाधि तथा उसका फल प्राप्त होता है। सांख्य के प्रधान और पुरुष से भिन्न यह ईश्वर है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पांच प्रकार के क्लेशों से, पुण्य और पाप कर्म, कर्म का फल विपाक अर्थात् जाति, आयु और भोग तथा उस विपाक के अनुरूप वासना। ये ही वासनाएँ चित्तभूमि में रहने के कारण आशय हैं। है तो ये सब मन अर्थात् अन्तःकरण में किन्तु इनका आरोप होता है पुरुष में,

1. योगभाष्य, योगसूत्र, १।२४। 2. योगसूत्र, १/२७।
3. योगसूत्र, १।२८। 4. योगभाष्य, योगसूत्र, १।२८।

क्योंकि बद्ध-पुरुष हो तो इनका भोक्ता है। इस प्रकार के भोगों से असंयुक्त या अस्पृष्ट जो पुरुष-विशेष वही 'ईश्वर' हैं। वह सदैव मुक्त हैं। न तो वह कभी बद्ध थे और न कभी बद्ध होंगे जैसे प्रकृतिलीन जीव होते हैं। उनमें सदैव ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य की पराकाष्ठा की प्राप्ति जिस पुरुष में हो वही ईश्वर हैं। जिनके ऐश्वर्य के समान तथा जिनके ऐश्वर्य से अधिक ऐश्वर्य कहीं न हो वही ईश्वर हैं। वह पुरुष-विशेष हैं। इन्हीं बातों के कारण सांख्य के 'ज्ञ' या 'पुरुष' से योग के ईश्वर विशेष हैं। अत एव इन्हें पुरुष-विशेष कहते हैं।

वह सर्वज्ञ हैं। जहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा की प्राप्ति हो, वही सर्वज्ञ है। अपने स्वार्थ के लिए कोई प्रयोजन न रहने पर भी जीवों पर अनुग्रह करना उनका प्रयोजन है। कल्प-प्रलय, महा-प्रलय आदि में ज्ञान तथा धर्म के उपदेश के द्वारा संसारी पुरुषों का मैं उद्धार करूंगा इस प्रकार जीवों पर वह अनुग्रह करते हैं।

इस ईश्वर का वाचक 'प्रणव' (ओंकार) है। इस प्रणव के जप तथा प्रणव नाम के ईश्वर की भावना करने से चित्त एकाग्र होता है। ऐसा ही कहा भी है—

स्वाध्याय से योग में आरूढ़ (अर्थात् समाधि में स्थित) होना चाहिए एवं योग के द्वारा पुनः स्वाध्याय में उत्कर्ष को प्राप्त करना चाहिए। स्वाध्याय तथा योग दोनों की सम्पत्ति अर्थात् उत्कर्ष को प्राप्त करने से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार के ईश्वर को एक भिन्न तत्त्व योगदर्शन ने स्वीकार किया है। है तो यह भी पुरुष (ज्ञ), किन्तु इसमें सदा मुक्ति, सदा ऐश्वर्य तथा सर्वज्ञत्व आदि के होने के कारण यह सांख्य के 'ज्ञ' (पुरुष) से भिन्न है। अत एव योगदर्शन को सेश्वर-सांख्य कहा है।

व्यक्तों के दो भेद— उपर्युक्त कार्यरूप व्यक्त दो प्रकार के हैं। कुछ तो प्रकृति के स्वरूप हैं। जैसे-महत्, अहङ्कार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा,

रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा, क्योंकि मूला प्रकृति के समान ये सात व्यक्त प्रकृतिरूप में होकर अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं। कुछ व्यक्त प्रकृति के विरूप हैं। जैसे-मनस्, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, तथा आकाश आदि पांच भूत, क्योंकि ये सोलह व्यक्त परिणामी होते हुए भी अन्य तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करते। इन्हीं कार्यरूप व्यक्तों के द्वारा प्रकृति की सिद्धि होती है।

प्रकृति की सिद्धि और उसके धर्म

जिस वस्तु का प्रत्यक्ष न हो उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय होता है। इसलिए शास्त्रकार अनेक हेतुओं के द्वारा उसके अस्तित्व की सिद्धि करते हैं।

प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह बहुत सूक्ष्म है। अत एव उसके अस्तित्व के लिए उपर्युक्त व्यक्तों के द्वारा सिद्धि के उपायों के अतिरिक्त और भी पांच कारण दिये गये हैं—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥
कारणमस्त्यव्यक्तम्।[1]

(१) भेदानां परिमाणात्—अर्थात् 'महत्' आदि तेईस भेद अर्थात् व्यक्त परिमित हैं अर्थात् इनका परिमाण सीमित है। यह देखा जाता है कि संसार में जितने कार्य हैं, वे सब सीमित हैं और सीमित कार्यों को उत्पन्न करने के लिए एक कोई असीमित कारण होना चाहिए जिससे इन सभी भेदों का संसर्ग हो। यदि प्रकृति इनका कारण न होती तो सभी व्यक्त निष्परिमाण होते। अत एव इन सीमित व्यक्तों का एक असीमित कारण प्रकृति या अव्यक्त है।

(२) (भेदानां) समन्वयात्—महत् आदि भेद यद्यपि एक दूसरे

1. सांख्यकारिका, १५-१६।

से भिन्न हैं, तथापि इन सब में एक प्रकार का साधारण धर्म देख पड़ता है जो सभी को एकसूत्र में समन्वित कर रक्खा है। इन सबको समन्वय करने वाला एक अव्यक्त प्रकृति है।

(३) (भेदानां) शक्तितः प्रवृत्तेः—महत् आदि तईस व्यक्ता में सरूप या विरूप परिणाम के लिए प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति व्यक्तों में किसी एक विशेष 'शक्ति' के कारण होती है। प्रत्येक व्यक्त में भिन्न-भिन्न 'शक्ति' मानने में अनेक दोष एवं गौरव है। इसलिए इस 'शक्ति' का एक कोई आश्रय मानना पड़ेगा, जिसके द्वारा सभी भेदों में 'शक्ति' आती है तथा भेदों को परिणाम के लिए प्रवृत्त करती है। यह आश्रय अव्यक्त प्रकृति है।

(४) (भेदानां) कारण-कार्य-विभागात्—कारण और कार्य के रूप में व्यक्त का विभाग देखा जाता है। जैसे 'महत्' कारण है और 'अहङ्कार' उसका कार्य है। 'पांच तन्मात्राएँ' कार्य हैं, तो कोई इनका कारण है। इस प्रकार इनका वह कारण 'अहङ्कार' है। इसी प्रकार 'महत्' भी कार्य है, उसका भी कोई कारण अवश्य होगा। अन्य सभी कार्यरूप तत्त्व में इसी प्रकार कार्य और कारण के रूप में विभाग देखा जाता है। कार्यकारणरूप में विभाग होने ही के कारण उनके परिणामरूप प्रवृत्ति में भी भेद है। अत एव 'महत्' का भी कोई कारण है। वही कारण अव्यक्त प्रकृति है।

(५) अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य—सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। अत एव वस्तुतः कारण और कार्य में भेद नहीं है। कारण का स्वरूप यही है कि सरूप या विरूप परिणाम के समय में कार्य अपने-अपने कारण में अव्यक्तरूप में लीन देख पड़ता है। कार्यरूप में विद्यमान पांचभूत लयावस्था में क्रमशः अपने-अपने कारण पांच तन्मात्राओं में अव्यक्तरूप में लीन होकर उनके साथ तादात्म्यस्वरूप धारण करते हैं। इसी प्रकार 'तन्मात्राएँ' अहङ्कार में अव्यक्त हो जाते हैं और 'अहङ्कार' महत् में लीन होकर

अव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार 'महत्'रूप कार्य भी अपने कारण में लीन होकर जब अव्यक्त होगा तभी समस्त विश्व में तादात्म्य, या अविभाग सिद्ध होगा और वास्तव में तभी सत्कार्यवाद की सिद्धि हो सकती है। अत एव जिसमें क्रमशः 'महत्' आदि सभी व्यक्त अन्ततोगत्वा साक्षात् या परम्परारूप में लीन होकर अव्यक्त होते हैं और सत्कार्यवाद को सिद्ध करते हैं, वही अव्यक्त प्रकृति है।

इस प्रकार सांख्यदर्शन में अव्यक्त, या मूला प्रकृति, या कारण या प्रधान की सिद्धि उसके कार्यों के द्वारा होती है। यह मूला प्रकृति[1] एक ही है।

अव्यक्त या प्रधान के धर्म—पूर्व में हेतुमत् से लेकर परतन्त्र पर्यन्त जितने धर्म व्यक्त के कहे गये हैं, उनके विपरीत धर्म अव्यक्त में हैं। जैसा कहा है—विपरीतमव्यक्तम्।[2] अर्थात् अव्यक्त 'अहेतुमत्' (किसी का विकार नहीं, इसका कोई कारण नहीं), 'नित्य' (अपने स्वरूप को सदैव एकसा रखना), 'व्यापक', 'निष्क्रिय' (व्यक्तरूप में क्रिया से रहित रहना), 'एक', 'अनाश्रित' (किसी के आश्रित होकर न रहना), 'अलिङ्ग' (किसी तत्त्व में लय न होना), 'निरवयव' (व्यक्तरूप में अवयव से सम्पन्न न होना) तथा 'स्वतन्त्र' (अपने अस्तित्व के लिए किसी की अपेक्षा न रखना) है।

इनके अतिरिक्त अव्यक्त में 'त्रिगुणत्व', 'अविवेकित्व', 'विषयत्व' 'सामान्यत्व', 'अचेतनत्व' एवं 'प्रसवधर्मित्व' धर्म हैं। ये धर्म, जैसा पहले कहा गया है, व्यक्त में भी हैं। इसीलिए कहा है—व्यक्तं तथा प्रधानम्।[1] अव्यक्त में अविवेकित्व आदि धर्म हैं। इसमें अनुमान ही प्रमाण है—

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्॥

---

1. सांख्यकारिका, ११। 2. सांख्यकारिका, १४

अव्यक्त में अविवेकित्व आदि धर्म सिद्ध हैं, क्योंकि उस में त्रैगुण्य है। जहाँ जहाँ त्रैगुण्य है वहाँ अविवेकित्व आदि धर्म हैं, जैसे महत् आदि व्यक्तों में। तथा जहाँ अविवेकित्व आदि नहीं है, वहाँ त्रैगुण्य भी नहीं है। जैसे ज्ञ में। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक अनुमानों से अव्यक्त में अविवेकित्व आदि की सिद्धि की जाती है। एवं महत् आदि व्यक्त में अविवेकित्व आदि हैं, यह तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। सांख्य में कार्य और कारण में अभेद माना गया है। तस्मात् कारण में अर्थात् अव्यक्त में भी अविवेकित्व आदि हैं।

गुणों का निरूपण—सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था ही को 'प्रकृति' या 'अव्यक्त' कहते हैं। सांख्य में ये ही 'गुण' कहलाते हैं। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण ने लिखा है—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥[3]
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥[4]

सत्त्वगुण का हलकापन तथा प्रकाश स्वभाव है। इसके आधिक्य से शरीर या अन्य वस्तुओं में हलकापन का बोध होता है। शरीर हलका मालूम होता है। बुद्धि में प्रकाश होता है। अन्य वस्तुओं में भी जो प्रकाश है, निर्मलता है वे सभी सत्त्व ही के स्वरूप हैं।

रजोगुण सतत गतिमान् है। जितनी स्थूल या सूक्ष्म क्रियाएँ हैं, वे सब रजोगुण के प्रभाव से होती हैं। वस्तु का उद्योतक, उत्तेजक रजोगुण होता है। एक सांढ को देखकर दूसरा सांढ जो उत्तेजित होता है, एक कुत्ते को देखकर दूसरा कुत्ता जो गुर्राता है, वे सब रजोगुण के प्रभाव हैं। इसे ही उपष्टम्भक कहते हैं।

---

3. सांख्यकारिका, १३। 4. सांख्यकारिका, १२।

तमःगुण के प्रभाव से शरीर में गौरव, आलस्य, अज्ञानता, अपने कार्य में अक्षमता आदि होते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मों से सम्पन्न होने पर भी ये गुण प्रदीप के समान (बद्ध-पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिए) व्यापार करते हैं।

सत्त्वगुण प्रीत्यात्मक, रजोगुण अप्रीत्यात्मक तथा तमोगुण विषादात्मक हैं। इनमें क्रमशः प्रकाश, क्रियाशीलत्व तथा नियमन करने का सामर्थ्य है। ये परस्पर एक दूसरे को अभिभूत कर स्वयं उद्रिक्त होकर रहते हैं। इनमें परस्पर आश्रयाश्रयिभाव है। परस्पर मिलकर ये दूसरे तत्त्व की अभिव्यक्ति करते हैं। ये युक्त होकर परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हैं। परस्पर मिलकर ये अपना-अपना व्यापार करते हैं।

पुरुष का निरूपण

ज्ञ का निरूपण—सांख्यदर्शन का अन्तिम प्रमेय, जिसका विज्ञान दुःख की चरमनिवृत्ति के लिए परमावश्यक है, 'ज्ञ' है। शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट मालूम होता है कि ईश्वरकृष्ण ने भी अपनी कारिका में 'ज्ञ' का निरूपण किया था। इसके निरूपण के विना शास्त्र के उद्देश्य की सिद्धि ही नहीं हो सकती। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं कहा है—

व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।[1]

यह ज्ञ परोक्ष है, अत एव यह निश्चय है कि कारिकाओं में अव्यक्त की सिद्धि के समान कहीं 'ज्ञ' की सिद्धि की भी चर्चा अवश्य होनी चाहिए। परन्तु वर्तमान कारिकाओं में कहीं भी ज्ञ की सिद्धि की चर्चा नहीं है। यद्यपि दूसरी, तीसरी, ग्यारहवीं, उन्नीसवीं, बीसवीं, आदि कारिकाओं में 'ज्ञ' का सामान्य चर्चा है, किन्तु 'ज्ञ' तो अत्यन्त परोक्ष प्रमेय है और इसकी सिद्धि प्रमाणों के अनुसार आप्तागम अर्थात् शब्द-प्रमाण से ही होती है।

---

1. सांख्यकारिका, २।

अत एव किसी न किसी कारिका में इसकी सिद्धि करने का विधान की चर्चा अवश्य होनी चाहिए। परन्तु इस प्रकार की विशेषरूप में चर्चा वर्तमान कारिकाओं में कहीं भी नहीं देख पड़ती।

टीकाकारों ने निम्नलिखित दो कारिकाओं के आधार पर 'ज्ञ' की सिद्धि की है—

'पुरुष' अर्थात् 'ज्ञ' के लिए टीकाकारों का प्रमाण—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥
जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥[1]

पुरुषोऽपि सूक्ष्मः तस्याधुना अनुमित्या अस्तित्वं प्रतिक्रियते। अस्ति पुरुषः। कस्मात्? 'संघातपरार्थत्वात्'। योऽयं महदादिसंघातः स पुरुषार्थं इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात्, पर्यङ्कवत्। यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलकपादपीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसंघातः परार्थो न हि स्वार्थः। पर्यङ्कस्य नहि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति। अतोऽवगम्यते अस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते। यस्यार्थं पर्यङ्कः तत् परार्थम्। इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां संघातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादिसंघातरूपं समुत्पन्नमिति।

इतश्चात्मा अस्ति-'त्रिगुणादिविपर्ययात्'। यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां त्रिगुणमविवेकि विषय इत्यादि, तस्माद् विपर्ययात्। येनोक्तं-'तद्विपरीतः तथा च पुमान्'।

'अधिष्ठानात्'। यथेह लंघनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिना अधिष्ठितः प्रवर्तते, तथा आत्माऽधिष्ठानात् शरीरमिति। तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते।' अतो-

ऽस्ति आत्मा, भोक्तृत्वात्। तथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायषड्रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्य अन्नस्य साध्यते, एवं महदादिलिङ्गस्य 'भोक्तृभावाद्' अस्ति स आत्मा, यस्येदं भोग्यं शरीरमिति।

इतश्च 'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः'। केवलस्य भावः कैवल्यम्। तन्निमित्तं या च प्रवृत्तिस्तस्याः स्वकैवल्यार्थं प्रवृत्तेः सकाशादनुमीयते अस्ति आत्मा इति। यतः सर्वो विद्वान् अविद्वांश्च संसारसन्तानक्षयमिच्छति। एवमेभिर्हेतुभिरस्ति आत्मा शरीराद्व्यतिरिक्तः[1]।

टीकाकारों के मत में पुरुष के अनेक होने का प्रमाण—

पुरुष-बहुत्वं सिद्धम्। कस्मात्? 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्।' निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिः देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म। न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्य अपरिणामित्वात्। तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, न तु आत्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात्। करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश। तेषां जननमरणकरणानां प्रतिनियमो व्यवस्था। सा खलु इयं सर्वशरीरेषु एकस्मिन् पुरुषे नोपपद्यते। तदा खलु एकस्मिन् पुरुषे जायमाने सर्वे जायेरन्, म्रियमाणे च (सर्वे) म्रियेरन्, अन्धादौ चैकस्मिन् सर्वे एव अन्धादयः, विचित्ते चैकस्मिन् सर्व एव विचित्ताः स्युरित्यव्यवस्था स्यात्। प्रतिक्षेत्रं तु पुरुषभेदे भवति व्यवस्था।

इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेद इत्याह-'अयुगपत् प्रवृत्तेश्च'। तस्मिन् एकत्र शरीरे प्रयतमाने स एव सर्वशरीरेषु एक इति सर्वत्र प्रयतेत। ततश्च सर्वाण्येव। शरीराणि युगपच्चालयेत्। नानात्वे तु नायं दोष इति।

---

1. गौड़पादभाष्य, सांख्यकारिका, १७।

इतश्च पुरुषभेद इत्याह—'त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।' त्रया गुणाः त्रैगुण्यम्। तस्य विपर्ययोऽन्यथात्वम्। केचित् खलु सत्त्वनिकायाः सत्त्वबहुलाः, यथोर्ध्वस्रोतसः। केचिद् रजोबहुलाः, यथा मनुष्याः। केचित्तमोबहुलाः, यथा तिर्यग्योनयः। सोऽयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययोऽन्यथाभावः तेषु सत्त्वनिकायेषु न भवेत यदि एकः पुरुषः स्यात्, पुरुषभेदे तु अयमदोषः॥ [1]

पुरुष भी सूक्ष्म है। अतः प्रकृति की तरह अनुमान के द्वारा उसकी भी सिद्धि की जाती है।

अनुमान का स्वरूप नीचे दिखाया गया है—

(१) पुरुष है, क्योंकि मिल करके एक बने हुए जितने वस्तु हैं, सभी दूसरे के लिए हैं। अतः महत् आदि तत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस् के मेल से बना हुआ एक संघात है, वह चेतन पुरुष के लिए होता है, क्योंकि वह संघात अचेतन है। जैसे पलङ्ग—अर्थात् अनेक वस्तुओं से सजाकर बना हुआ एक पलङ्ग दूसरे किसी के भोग के लिए होता है। अपने लिए नहीं। इस प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि कोई एक पुरुष है जिसके सोने के लिए वह पलङ्ग है। इसी प्रकार पाँच महाभूतों के संघात से बना हुआ यह शरीर किसी दूसरे के भोग के लिए है। जिसके भोग के लिए है—वही पुरुष है।

(२) पूर्वकथित त्रिगुण, अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन, इन धर्मों का विपर्यय अर्थात् विपरीत जहाँ है, वही पुरुष[2] है। अर्थात् उपर्युक्त सभी धर्म व्यक्त तथा प्रधान में हैं और ये धर्म जहाँ न हों, वही पुरुष है।

---

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, १८।
2. सांख्यकारिका, ११।

(३) जिस प्रकार, दौड़ने में समर्थ घोड़ों से युक्त रथ, सारथि से अधिष्ठित होने पर ही चलता है, उसी प्रकार हम लोगों का 'शरीर' सारथी के समान जिससे अधिष्ठित होकर चलता है, वही पुरुष है।

(४) 'भोक्तृत्व' होने के कारण पुरुष है। जैसे, अनेक प्रकार के रसों से युक्त भोजन का 'भोक्ता' कोई पुरुष होता है, उसी प्रकार महत् आदि से बना हुआ इस शरीर का कोई 'भोक्ता' है। जो'भोक्ता' है वही पुरुष है।

(५) देखा जाता है कि संसार में विद्वान् तथा मूर्ख सभी संसार-बन्धन से मुक्त होने के लिए सतत चेष्टा करते हैं अर्थात् संसार के गति को नाश कर कैवल्य की प्राप्ति के लिए सभी प्रयत्न करते हैं। यदि शरीर आदि से भिन्न पुरुष न होता, तो किसकी मुक्ति के लिए शरीर में प्रवृत्ति होती तथा कौन अपने कैवल्य के लिए चेष्टा करता। इस प्रकार गौड़पाद ने 'शरीर आदि से भिन्न एक आत्मा या पुरुष है' यह सिद्ध किया है।

बद्ध-पुरुष अनेक है—यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त पाँच हेतुओं के द्वारा जिस एक पुरुष का शरीरादि से पृथक् अस्तित्व सिद्ध होना टीकाकारों ने लिखा है, वह 'पुरुष' 'बद्ध-पुरुष' है, 'ज्ञ' नहीं है। 'ज्ञ'तो स्वभाव ही से निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, निरञ्जन आदि स्वरूप का है। बद्धपुरुष ही 'कैवल्य' चाहता है तथा 'भोक्ता' है। 'ज्ञ' तो स्वभाव ही से मुक्त है और वह 'भोक्ता' नहीं है। अत एव प्रति शरीर में एक बद्धजीवात्मक पुरुष है। यही इन उपर्युक्त युक्तियों से सिद्ध होता है, न कि निर्लिप्त त्रिगुणातीत 'ज्ञ' का होना।

वृद्ध वाचस्पतिमिश्र का कथन—'जननमरणकरणानाम्' इत्यादि दूसरी कारिका की व्याख्या में वाचस्पतिमिश्र ने जो लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पुरुष अनेक हैं। क्योंकि जन्म, मरण तथा करणों के व्यापार में एक नियम है। यदि एक ही पुरुष होता तो अन्य-

वस्था हो जाती। अर्थात् जन्म, मरण तथा करणों के व्यापार में एक व्यवस्था है। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष होता तो एक के जन्म लेने से सभी का जन्म हो जाता, एक के मरने से सभी की मृत्यु हो जाती तथा एक के करण का नाश होने से सभी के करण का नाश हो जाता। किन्तु संसार में तो ऐसी बात देख नहीं पड़ती अर्थात् प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् जन्म, मरण आदि की एक नियत व्यवस्था है। यह व्यवस्था तभी रह सकती है जब प्रति शरीर में एक भिन्न और स्वतन्त्र पुरुष हो।

इसी प्रकार यदि सभी शरीर में एक ही आत्मा या पुरुष होता तो एक शरीर के चलने से सभी शरीर एक साथ चल पड़ते। परन्तु वास्तव में ऐसी व्यवस्था तो देख नहीं पड़ती। अत एव पुरुष अनेक हैं।

पुनः संसार में देखा जाता है कि कोई जीव सत्त्वगुण प्रधान है, तो दूसरा रजोगुण प्रधान है और तीसरा तमोगुण प्रधान है। यह व्यवस्थित भेद तभी हो सकता है जब प्रति शरीर में एक भिन्न-भिन्न पुरुष हों। अन्यथा सभी सत्त्वगुणी, या रजोगुणी, या तमोगुणी होते।

इन कारणों से वाचस्पतिमिश्र का कहना है कि वह पुरुष जिसकी सिद्धि ऊपर की गई है, अनेक है।

उपर्युक्त व्याख्यानों के आधार पर दार्शनिक विद्वानों का यह एक अटल विश्वास है कि सांख्य में जो पुरुषतत्त्व है वह एक नहीं है, किन्तु अनेक है और यह सिद्धान्त इतना व्यापकरूप में प्रसिद्ध हो गया कि इसके विरुद्ध में वास्तविक तत्त्व को सोचने के लिए भी आज कोई प्रस्तुत नहीं है। वृद्ध वाचस्पतिमिश्र के समान प्रकाण्ड विद्वान् ने भी अपनी तत्त्वकौमुदी नाम की टीका में मूल कारिका की पंक्ति को उलटकर उपर्युक्त अयथार्थ सिद्धान्त की पुष्टि की है।

बहु-पुरुष-वाद की भ्रान्ति का निराकरण—अस्तु। यहाँ उस भ्रान्ति को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। अब यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सांख्य का जो 'पुरुष' है उसे 'ज्ञ' भी कहते हैं। यह

'ज्ञ' स्वभावत: निर्लिप्त, त्रिगुणातीत आदि धर्मों से सम्पन्न है, जैसा ईश्वरकृष्ण ने स्वयं 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्'[1] इन शब्दों में कहा है। स्वभावत: ऐसा होने पर भी 'ज्ञ' अनादिकाल से बद्ध है और पुनः मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है। बन्धन से यह पुरुष मुक्त भी हो जाता है।

पुरुष एक है—यहाँ इतना और कहना पर्याप्त है कि उपर्युक्त कारिका तथा वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या इन दोनों से यह स्पष्ट है कि ये बातें बद्ध पुरुष ही के लिए कही गई हैं। निर्लिप्त 'ज्ञ' न तो जन्म लेता है, न मरता है, न उसके कोई करण हैं। एवं वह त्रिगुणातीत है, अत एव उसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् का होना सर्वथा असम्भव है। इन कारणों से 'संघातपरार्थत्वादि' हेतु ज्ञ-पुरुष में लागू नहीं हो सकता।

टीकाकारों के विरोध में तथा हमारे मत के समर्थन में एक विशेष प्रमाण यह है कि ईश्वरकृष्ण ने स्वयं ग्यारहवीं कारिका में ज्ञ के अनेक धर्मों का निरूपण करते हुए कहा है—पुरुष एक है और इसकी व्याख्या में गौडपाद ने भी कहा है—(एकम् अव्यक्तं) तथा च पुमानपि एक:। वाचस्पतिमिश्र ने इस कारिका की व्याख्या में पुरुष के सम्बन्ध में इस 'एक' शब्द का बहुत असन्तोषजनक समाधान दिया है।

इसलिए इन दोनों कारिकाओं के आधार पर उस ज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती, जिसे 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' में ईश्वरकृष्ण ने निर्देश किया है।

लुप्त कारिका की खोज—वस्तुत: उस 'ज्ञ' की सिद्धि के लिए कोई कारिका उपलब्ध कारिकाओं में नहीं देख पड़ता। किन्तु उसकी सिद्धि के लिए कहीं निर्देश होना तो आवश्यक है। वह निर्देश कहाँ किया रहा होगा, यह अब हमें ढूँढना है।

---

1 सांख्यकारिका, ११।

विद्वानों को मालूम है कि छठी सदी का एक विद्वान् 'परमार्थ' ने चीनीभाषा में 'सांख्यकारिका', जिसे 'सांख्यसप्तति' भी कहते हैं, का अनुवाद किया था और जिसका नाम चीनीभाषा में भी 'सुवर्ण-सप्तति', 'कनकसप्तति' आदि हैं। इससे यह स्पष्ट है कि परमार्थ के समय पर्यन्त इस ग्रन्थ में सत्तर कारिकाएँ थीं। गौड़पाद, यदि ये शंकराचार्य के परम गुरु हों तो, सातवीं सदी में अवश्य रहे होंगे। इन्होंने केवल उनसठ ही कारिकाओं पर भाष्य लिखा है। इससे यह स्पष्ट है कि उस मध्य समय में किसी कारण से इस ग्रन्थ की एक कारिका नष्ट हो गई और गौड़पाद को वह लुप्त कारिका न मिली। लोकमान्य तिलक से लेकर वर्तमान पण्डित श्रीऐय्यास्वामी तक अनेक विद्वानों ने इस लुप्त कारिका के सम्बन्ध में अपना-अपना मत प्रकाशित किये हैं। इन विद्वानों के मत से मुझे किसी प्रकार सन्तोष नहीं है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उस लुप्तकारिका का सम्बन्ध इसी 'ज्ञ' से रहा होगा और वह कारिका वर्तमान ग्रन्थ के सोलहवीं तथा सत्रहवीं कारिका के बीच में रही होगी।

'ज्ञ' की सिद्धि—इस लुप्त कारिका में सम्भवतः दो बातें रही होंगी। एक तो 'ज्ञ' की सिद्धि तथा दूसरी 'बद्ध पुरुष' की चर्चा। 'ज्ञ' की सिद्धि में तो केवल इतना ही कहना है कि वह अत्यन्त परोक्ष है। अतः इसका प्रत्यक्ष नहीं होता और वह त्रिगुण से रहित है। इसमें कोई धर्म नहीं है जो अनुमान के लिए लिंग हो सके। अत एव अनुमान से भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए उसके अस्तित्व के लिए केवल आगम ही एकमात्र प्रमाण है, जैसा पहले कहा जा चुका है। अनादि अज्ञान के कारण अनादि 'ज्ञ' बद्ध हो गया है। उसे ही जीवात्मा या बद्ध-पुरुष कहते हैं। यदि 'ज्ञ' के सम्बन्ध में कारिका में कुछ भी न कहा गया होता तो ईश्वरकृष्ण के अनुसार 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' इन तीनों का विशेष ज्ञान किस प्रकार इस ग्रंथ से हमें प्राप्त हो सकता तथा यह ग्रंथ

खण्डित ही रह जाता। इसलिए यह स्पष्ट है कि ईश्वरकृष्ण ने किसी कारिका में 'ज्ञ' की विशेष चर्चा अवश्य की थी जो कारिका आज लुप्त है। जैसा मैंने पहले भी कहा है, इस 'ज्ञ' की चर्चा सोलहवीं तथा सत्रहवीं कारिकाओं के बीच में अवश्य रही होगी ऐसा मुझे मालूम होता है। वाचस्पतिमिश्र ने तथा बहुत पहले श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी इसका निरूपण है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः[1]॥

अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् के स्वरूप की एक नित्य मूला प्रकृति है जो सतत सरूप या विरूप परिणाम में परिणमित होती रहती है। एक अज (नित्य आत्मा) है जो उस प्रकृति की सेवा में लगा रहता है। एक दूसरा अज (नित्य आत्मा) है जो प्रकृति का भोग सम्पन्न कर उसको परित्याग कर देता है।

उपनिषद् के इसी मन्त्र में कुछ परिवर्तन कर वृद्ध वाचस्पतिमिश्र ने अपने तत्त्वकौमुदी का मङ्गलाचरण किया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥

सांख्य में तीन प्रकार के पुरुष—उपर्युक्त मन्त्र तथा मंगलाचरण से यह स्पष्ट है कि 'ज्ञ' का तीन स्वरूप विद्वानों ने माना है—(१) शुद्ध, निर्लिप्त, (२) बद्ध-पुरुष तथा (३) मुक्त-पुरुष। इस प्रकार सांख्य में तीन प्रकार के पुरुष हैं। पूर्वकथित 'सङ्घातपरार्थत्वात्' तथा 'जननमरणकरणानाम्' आदि कारिकाओं में जो युक्तियाँ कही गई हैं, वे बद्ध-पुरुष के अस्तित्व के सम्बन्ध में हैं। ये बद्ध-पुरुष अनेक हैं। बद्ध तथा मुक्त पुरुषों से भिन्न एक निर्लिप्त पुरुष है जिसे 'ज्ञ' कहते हैं। 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' इस कारिका में जो ज्ञ है,

---

1. ४।५।

वह यही ज्ञ है, बद्ध-पुरुषरूप ज्ञ नहीं है। वह 'ज्ञ' एक है, अनेक नहीं हो सकता। इसलिए गौडपाद तथा माठरवृत्तिकार ने कहा है—पुमानपि एकः। टीकाकारों ने जो सांख्य में पुरुषबहुत्ववाद को चलाया है, वह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। लुप्त कारिका के न मिलने के कारण विद्वानों ने उसका अनुसंधान नहीं किया और जितनी कारिकाएँ विद्यमान थीं उन्हीं की किसी प्रकार व्याख्या कर दी। इसीसे इतनी भ्रान्ति फैल गई है। बद्ध-पुरुष या जीवात्मा तो सभी दर्शनों में अनेक है। 'परमात्मा' या 'ज्ञ' तो एक ही है। यही सांख्यदर्शन का भी मत है।

'ज्ञ' के धर्म—पूर्व उद्धृत दसवीं तथा ग्यारहवीं कारिकाओं के अनुसार अहेतुमत्त्व, नित्यत्व, व्यापित्व, निष्क्रियत्व, एकत्व, अनाश्रितत्व, अलिंगत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व, अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्य, चेतनत्व, तथा अप्रसवधर्मित्व ये सभी निर्लिप्त शुद्ध 'ज्ञ' के धर्म हैं।

परिणाम-निरूपण

परिणाम का स्वरूप—ऊपर कहा गया है—

कारणमस्ति अव्यक्तम्, प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्[1] ॥

अव्यक्त कारण है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीनों गुण गौणमुख्य रूप में मिलकर अव्यक्त को प्रवर्त्तित करते हैं। अर्थात् इन तीनों गुणों के कारण ही प्रकृति तथा अन्य तत्त्वों में परिणाम होता है। एक ही मूला प्रकृति से गुणों के भिन्न-भिन्न आधार के कारण अनन्त विचित्र सृष्टि होती है; जिस प्रकार आकाश से एक ही प्रकार का, एक ही रस का जल गिरता है, किन्तु भिन्न-भिन्न आश्रय को पाकर एक ही प्रकार का जल कहीं मीठा, कहीं खट्टा, कहीं तिक्त आदि रसों को उत्पन्न करता

1. सांख्यकारिका, १६।

है। तात्पर्य यह है कि संसार की जितनी वस्तुयें हैं, वे सब गुणों के ही परस्पर परिवर्तन पूर्वक भिन्न-भिन्न संस्थान-विशेषों की अभिव्यक्तियाँ हैं। अर्थात् संसार के सभी वस्तुयें (साँख्य के ज्ञ को छोड़ कर) सभी गुणों ही के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इन तत्त्वों में गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। इनके परिणाम के सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है—

प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावा हि गुणा नापरिणमय्य क्षणमप्यवतिष्ठ ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतता रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते[1]।

प्रकृति में रजोगुण है। सतत चलायमान रहना रजोगुण का स्वरूप है। अतः अनादिकाल से रजोगुण के कारण प्रकृति में परिणाम होता रहा है। प्रलय के अनन्तर पुरुष के बिम्ब के सम्पर्क से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है और तब क्रमशः व्यक्तों की अभिव्यक्ति होती है। यह सब परिणाम है। परिणाम गुणों का स्वभाव है। परिणाम के बिना एक क्षण भी गुण नहीं रह सकते। लयावस्था में भी सत्त्व सत्त्वरूप से, रजस् रजोरूप से तथा तमस् तमोरूप से परिणमित होते ही रहते हैं। परिणाम के सम्बन्ध में सांख्य और योग में कोई भी मत भेद नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई 'धर्म' रहता ही है। वह सदैव बदलता रहता है। एक स्वरूप को छोड़ कर दूसरे स्वरूप को धारण करना ही 'परिणाम' है। यह परिणाम क्रियाशील प्रकृति तथा व्यक्तों ही में होता है, 'ज्ञ' में नहीं। 'परिणाम' यथार्थ में एक ही है किन्तु धर्म के भिन्न-भिन्न रूप धारण करने के कारण वह अनेक मालूम होता है। धर्मी तो अपना रूप कभी नहीं छोड़ता। तथापि धर्म के भेद से 'परिणाम' अनेक प्रकार का होता है। योगदर्शन में इसका विशेष विचार है।

---

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, १६।

योग में परिणाम—योग में चित्त की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक 'व्युत्थानावस्था' जिसमें सदैव कोई न कोई क्रिया व्यक्तरूप में होती ही रहती है। दूसरी निरोध की अवस्था जिसमें चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस अवस्था में स्थूलरूप में क्रिया नहीं देख पड़ती। अव्यक्तरूप में तो एक धर्म का आविर्भाव और साथ ही साथ दूसरे धर्म का तिरोभाव चित्त में होता ही रहता है। धर्मी सभी अवस्था में स्थिररूप से विद्यमान रहता है। यही 'परिणाम' का स्वरूप है।

निरोध-परिणाम—चित्तवृत्ति की निरोधावस्था में भी परिणाम होता है। उसे ही निरोध-परिणाम कहते हैं। योगसूत्र में पतञ्जलि ने लिखा है—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः [1]।

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्माः। न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः। तयोरभिभवप्रादुर्भावौ। व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं 'निरोधपरिणामः'। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति [2]। तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् [3]।

व्युत्थानसंस्कार का अभिभव और निरोध-संस्कार का प्रादुर्भाव के समय में प्रत्येक निरोध-क्षण में एक अभिन्न चित्त में अन्वित जो परिणाम होता है, वही निरोध-परिणाम है।

व्यासभाष्य में इसी की व्याख्या में कहा गया है कि सभी व्युत्थानसंस्कार चित्त के धर्म हैं। ये संस्कार प्रत्यय से आविर्भूत नहीं होते

1. योगसूत्र, ३।९।
2. व्यासभाष्य, योगसूत्र, ३।९।
3. योगसूत्र, ३।१०।

इसलिए प्रत्यय के निरोध से निरुद्ध भी नहीं होते। इसी प्रकार निरोध-संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। व्युत्थानसंस्कार का अभिभव और निरोधसंस्कार का आविर्भाव साथ ही साथ होता है, जिससे व्युत्थान-संस्कार क्रमशः क्षीण होने लगता है और निरोधसंस्कार क्रमशः सञ्चित होने लगता है। इन दोनों संस्कारों का परिणाम निरोधावस्था में प्राप्त चित्त ही में होता है। एक ही चित्त के निरोध संस्कार में प्रतिक्षण परिवर्तन होना ही निरोध-परिणाम है। इस समय चित्त में केवल संस्कार रहता है। निरोध-संस्कार के कारण चित्त में किसी प्रकार के प्रत्यय का भान नहीं होता। चित्त प्रशान्त होकर स्थिर रहता है।

समाधि-परिणाम—समाधि परिणाम योगाङ्ग समाधि का कार्य है। इसके स्वरूप के निरूपण में कहा गया है—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः[1]। सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रता चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयः तिरोभावः। एकाग्रताया उदय आविर्भावः। तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्। तदिदं चित्तमपायोपजननयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते। स चित्तस्य समाधि-परिणामः[2]।

सर्वार्थता अर्थात् विक्षिप्तता का क्षय तथा एकाग्रता का उदय चित्त का समाधि-परिणाम है। अर्थात् ये दोनों चित्त के धर्म हैं। समाधि की स्थिति में एक का तिरोभाव और दूसरे का आविर्भाव साथ-साथ होता है। इन दोनों स्थिति में धर्मी के रूप में चित्त अनुगत रहता है। धर्मी और धर्म में तादात्म्य होने के कारण सर्वार्थता तथा एकाग्रता रूप आत्मस्वरूप (स्वकार्यस्वरूप) धर्मों के क्षय तथा उदय काल

1. योगसूत्र, ३।११।
2. योगभाष्य, ३।११।

में अनुगत होने ही से चित्त समाहित होता है। इसी को चित्त का समाधि-परिणाम कहते हैं।

निरोध-परिणाम में व्युत्थान के संस्कारों का क्षय एवं निरोध के संस्कारों का उदय होता है, किन्तु समाधि-परिणाम में संस्कार तथा प्रत्यय दोनों ही के क्षय एवं दोनों ही के उदय होते हैं। 'निरोध-परिणाम' असम्प्रज्ञात-समाधि में एवं 'समाधि-परिणाम' सम्प्रज्ञात-समाधि में होता है। यही इन दोनों परिणामों के भेद हैं।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः [1]।

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्तः। उत्तरस्तत्सदृशः उदितः। समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैव आ समाधिभ्रेषादिति। स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्य 'एकाग्रतापरिणामः' [2]।

एकाग्रता-परिणाम—समाधि में स्थित चित्त में व्युत्थानकाल में विद्यमान विक्षिप्त प्रत्ययों का लय हो जाता है और तत्सदृश अन्य प्रत्ययों का आविर्भाव होता है। लय और उदय दोनों ही अवस्थाओं में, जब तक समाधि का भङ्ग न हो तब तक, समाहित चित्त विद्यमान रहता है अर्थात् समाधि की अवस्था में शान्त और उदित प्रत्यय दोनों तुल्यरूप में चित्त में प्रवाहित होते रहते हैं। धर्मी चित्त की यही तुल्य-रूपता एकाग्रता-परिणाम है।

इनके अतिरिक्त भूतों में एवं इन्द्रियों में सदैव परिणाम होते रहते हैं, जिन्हें धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणाम कहते हैं।

---

1. योगसूत्र, ३।१२।
2. योगभाष्य ३।१२।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः। तत्र व्युत्थाननिरोधयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्म-परिणामः[1]।

(१) धर्म-परिणाम—चित्तरूप धर्मी में व्युत्थान-धर्म का अभिभव तथा निरोध-धर्म का प्रादुर्भाव धर्म-परिणाम है।

(२) लक्षण-परिणाम—'लक्षण' का अर्थ है 'काल'। प्रत्येक वस्तु की 'अनागत', 'वर्तमान' एवं 'अतीत'—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जो 'अनागत' होता है, वही 'वर्तमान' और बाद को वही पुनः 'अतीत' हो जाता है। इन तीनों अवस्थाओं में 'समाहित-चित्त' धर्मी के रूप में विद्यमान रहता है। कोई भी एक 'काल' अन्य दोनों कालों से वियुक्त नहीं होता। इसे ही 'लक्षण-परिणाम' कहते हैं।

(३) अवस्था-परिणाम—निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति, दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति धर्माणामवस्थापरिणामः [2]।

जैसे पृथ्वी 'धर्मी' है। उससे 'घट' आदि जो आविर्भूत होते हैं वे धर्म-परिणाम हैं। इन 'घट' आदि में जो अनागत, वर्तमान एवं अतीत अवस्थाएँ होती हैं, वे लक्षण-परिणाम हैं तथा इन्हीं घट आदि के नया, पुराना आदि जो रूप होते हैं, वे 'अवस्था-परिणाम' हैं।

वस्तुतः परिणाम एक ही है—एते धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून् विशेषानभिप्लवते [3]।

इन तीनों परिणामों के स्वरूप में 'धर्मी' सदैव रहता ही है। इस लिए वस्तुतः परिणाम एक ही है, अवस्था भेद से भिन्न-भिन्न मालूम होता है।

---

1. योगभाष्य, ३।१३।
2. योगभाष्य, ३।१३।
3. योगभाष्य, ३।१३।

परिणामों के साथ-साथ योग की भूमियों का ज्ञान आवश्यक है। अत एव यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

योग की भूमि

योग की अवस्थाएँ—योग की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। इन अवस्थाओं को योग की भूमि भी कहते हैं। योग-साधन में लगा हुआ योगी साधन मार्ग में अग्रसर होता हुआ क्रमशः इन भूमियों पर अपना अधिकार प्राप्त करता है और इसी कारण वस्तुतः योगियों के भी चार भेद हो जाते हैं—

योगी के चार भेद—(१) प्रथमकल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति तथा (४) अतिक्रान्तभावनीय।

(१) **प्रथमकल्पिक**—यम,[१] नियम,[२] आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—इन अष्टांगों[३] का अभ्यास करते हुए जिस साधक का अतीन्द्रिय ज्ञान समाधि की ओर केवल प्रवृत्तिमात्र हुआ है, अभी उसने 'परचित्त' आदि पर अपना वश नहीं प्राप्त किया है, ऐसे अभ्यासी योगी को प्रथमकल्पिक कहते हैं।

---

१. 'यम'—किसी भी प्राणी का कभी और किसी प्रकार भी द्रोह न करना (अहिंसा), कायिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापार के द्वारा सत्य का पालन करना जिससे दूसरों को पीड़ा न हो (सत्य), दूसरों से अविधिपूर्वक धन को न लेना और न उसकी इच्छा ही करना (अस्तेय), सभी इन्द्रियों का संयम करते हुए गुप्तेन्द्रिय का विशेषरूप से नियन्त्रण करना(ब्रह्मचर्य) अर्थात् परस्त्री को देखना, उनके साथ आलाप करना, उनके भिन्न-भिन्न अंगों का स्पर्श करना, उनके साथ खेलना, उनका नाम लेना या स्मरण इत्यादि कर्म ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले हैं। अत एव इनसे दूर रहना आवश्यक है। इनसे दूर रहने ही को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

संसार के विषयों के संग्रह करने में, उनके रक्षण में, उनके नाश में, उनके साथ लिप्त रहने में, उनके हिंसा में दोष देखकर उनका परित्याग तथा पुनः अस्वीकार करना (अपरिग्रह) ये पाँच 'यम' कहे जाते हैं। ये एक प्रकार के बाह्य-शुद्धि हैं। योगसूत्र-भाष्य, २।२६।

२. 'नियम'—मिट्टी, जल आदि से शरीर के अंगों को शुद्ध करना तथा पवित्र भोजन तथा पेय से अन्तःकरण को शुद्ध करना 'बाह्य-शुद्धि' एवं असूया आदि के द्वारा चित्त के मलों को क्षालन करना 'आभ्यन्तर-शुद्धि' है। इन्हें 'शौच' कहते हैं। प्राण की रक्षा के लिए प्राप्त पर्याप्त साधन से अधिक साधन की इच्छा न करना 'संतोष' है। भूख-प्यास, शीत-उष्ण, बहुत देर तक खड़े रहना तथा बैठे रहना, काष्ठ-मौन (इशारे से भी अपने अभिप्राय का प्रकाशन न करना) और आकार-मौन (वचन के द्वारा अपने भाव को न प्रकाश करना), कृच्छ्र चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रत को करना, द्वन्द्वों का सह्य करना (तप), मोक्षशास्त्रों को पढ़ना तथा प्रणव का जप करना (स्वाध्याय) एवं ईश्वर में अपने सभी कर्मों का समर्पण करना (ईश्वरप्रणिधान), इन नियमों का पालन करना। ये सब 'नियम' के स्वरूप हैं। 'नियम' का पालन करना एक प्रकार से अन्तःकरण की शुद्धि है। योगसूत्र तथा भाष्य, २।३२।

पहले दिन केवल कुशोदक के सहित एक विशेष मात्रा में पञ्चगव्य को पान कर दूसरे दिन उपवास करे अर्थात् निराहार तथा निर्जल रहे। इस व्रत को 'सान्तपन' कहते हैं। यह तप क्लेशसाध्य है, अत एव इसे 'कृच्छ्र' कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं। (विशेष ज्ञान के लिए देखिए—मनु, ११।२१२; याज्ञवल्क्य, ५। ३१५)

(२) मधुभूमिक—निर्विचार-समाधि में स्थित समाहित-चित्त साधक की जो प्रज्ञा होती है, वह ऋतम्भरा प्रज्ञा[1] कही जाती है। यह अवस्था यथार्थ में योग का निश्चित साधन होने के कारण ऋतम्भरा कही जाती है। इसे सत्यम्भरा भी कहते हैं। इस प्रज्ञा में अन्यथा होने की कुछ भी आशंका नहीं होती। इसलिए कहा गया है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्[2] ॥

ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त किया हुआ योगी भूतों को तथा इन्द्रियों को अपने वश में लाने की इच्छा रखता है। इस प्रकार की प्रज्ञा को प्राप्त करने से वह 'मधुभूमि'[3] को प्राप्त कर लेता है।

मधुभूमि को प्राप्त कर योगी विशुद्ध अन्तःकरण का हो जाता है। इस अवस्था में देवता लोग उस योगी को स्वर्ग में आने का निमन्त्रण देते हैं तथा स्वर्गीय उपभोगसाधन—विमान, अप्सरा, कल्पवृक्ष आदि के द्वारा प्रलोभन देते हैं एवं अपने अभिलषित कार्यों के सम्पादन करने उसकी सहायता चाहते हैं। योगी को इन प्रलोभनों में दोष देखना चाहिए और इनके प्रलोभन में न पड़ना चाहिए। यह योगाभ्यासी की दूसरी अवस्था है।

(३) प्रज्ञाज्योति - इस भूमि में आकर योगी भूत और इन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर लेता है। परचित्त के ज्ञान आदि को प्राप्त कर उस सिद्धि से च्युत न होने पावे, इसके लिए वह अपनी दृढ़ रक्षा करता है[4]। परन्तु फिर भी उसे और भी ऊँचे स्तर पर जाना है, अत एव

---

1. योगसूत्र, १।४८।
2. योगसूत्र-भाष्य, १।४८।
3. योगसूत्र-भाष्य, ३।५१।
4. योगभाष्य, ३।५१।

विशोकादि[1] साधन से लेकर असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति पर्यन्त पहुँचने के लिए वह साधन में लगा रहता है। यह प्रज्ञाज्योति नाम की तीसरी अवस्था है।

(४) अतिक्रान्तभावनीय—इस अवस्था में पहुँचकर योगी का एकमात्र ध्यान रहता है—'चित्त का लय करना' अर्थात् 'असम्प्रज्ञात-समाधि' में पहुँच कर 'चित्त का लय करना' छोड़कर अब उसे कुछ भी अन्य कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि सात प्रकार की 'प्रान्तभूमिप्रज्ञा' उसे प्राप्त हो चुकी है।[2] अत एव अब उसे अन्य कुछ करने को अवशिष्ट नहीं बचा है।

---

१. योगसूत्र-भाष्य, १।३५-३६। 'चित्त' या मन के स्थिति दृढ़ करने के लिए योगशास्त्र में अनेक उपाय कहे गये हैं। जैसे—'विषयवती प्रवृत्ति' के उत्पन्न होने से अर्थात्, दृष्टान्त के रूप में नासिका के अग्रभाग में चित्त को लगाने से, एक प्रकार का ह्लादयुक्त दिव्य सुगन्धि का ज्ञान होता है, जिसे 'दिव्यगन्धसंविद्' कहते हैं। यही 'गन्ध-प्रवृत्ति' है। इसी प्रकार से जिह्वाग्र, आदि में 'दिव्यरससंविद्' आदि प्रवृत्तियाँ होती हैं। इनके द्वारा स्थिति में चित्त दृढ़ होता है, संशय दूर होता है और समाधि-प्रज्ञा का मार्ग सुगम हो जाता है। इसी प्रकार 'विशोका प्रवृत्ति' अर्थात् हृदय-कमल में चित्त को स्थिर करने से 'बुद्धि-संविद्' होता है। बुद्धि-सत्त्व, ज्योतिर्मय और आकाश की तरह विशद है। इस अवस्था में परम सुखमय सात्त्विकभाव के प्रभाव से चित्त अवसिक्त होता है। अत एव इसे 'विशोका प्रवृत्ति' कहते हैं। इसे ही 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' भी कहते हैं, क्योंकि ज्योति अर्थात् सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ विषयों को प्रकाश करने वाला ज्ञान रूपी यह आलोक है। इस प्रवृत्ति के द्वारा भी चित्त की स्थिति दृढ़ होती है। 'विशोका-प्रवृत्ति' दो प्रकार की होती है—'विषयवती' एवं 'अस्मितामात्रा'।

२. योगसूत्र-भाष्य, २।२७।

प्रज्ञा के भेद—विवेकख्याति को पाकर प्रसन्न चित्त योगी को क्रमशः सात प्रकार की प्रान्तभूमि-प्रज्ञा प्राप्त होती है। चित्त के अशुद्धि रूप आवरणमल के नाश होने के कारण तामसिक, राजसिक, संसारी ज्ञान अर्थात् प्रत्ययान्तर न होने से विवेकी साधक को सात प्रकार की प्रज्ञा होती है। विषय के भेद से 'प्रज्ञा' का भेद होता है। इन सात प्रकार की प्रज्ञाओं के निम्नलिखित स्वरूप होते हैं—

(१) प्रकृति के परिणामों से उत्पन्न दुःख हेय हैं। सभी हेय तत्त्वों का ज्ञान साधक योगी ने प्राप्त कर लिया है, अब उस साधक का अन्य परिज्ञेय कुछ भी नहीं है।

(२) हेय के सभी कारण नष्ट हो चुके हैं, अब उन्हें क्षीण करने की आवश्यकता नहीं है। अब कोई क्षेतव्य नहीं बचा है।

(३) निरोध-समाधि के द्वारा साध्य हान को मैंने संप्रज्ञात-समाधि की अवस्था ही में साक्षात् निश्चय कर लिया है। अब मुझे इसके परे निश्चय करने को कुछ भी नहीं हैं, ऐसी प्रज्ञा साधक को होती है।

(४) विवेकख्याति रूप हान के उपाय को मैंने भावना (अर्थात् निष्पादित) करली है। अब इसके परे चित्त में अन्य किसी भी योग के धर्मों की भावना के योग्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं है।

इस चार प्रकार की प्रज्ञा के कार्य को विमुक्ति कहते हैं। इनके अतिरिक्त उस साधक के चित्त की विमुक्ति और भी तीन प्रकार की है, जिनके स्वरूप निम्नलिखित हैं—

(५) बुद्धि भोग का सम्पादन कर चुकी है और उसे विवेकख्याति हो गई है।

(६) पर्वत के शिखर से गिरे हुए पत्थर के समान निरवस्थान सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीनों गुण अपने कारण में लीन होने के लिए अभिमुख होकर कारण के साथ-साथ लय को प्राप्त होते हैं। उनका

अब कोई भी कर्त्तव्य न रहने के कारण पुनः उनकी अभिव्यक्ति भी न होगी।

(७) इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से रहित, स्वरूपमात्र ज्योति, अर्थात् ज्योतिःस्वरूप, अमल (अर्थात् मलरहित) केवली पुरुष जीवित अवस्था ही में मुक्त हो जाता है।

इन सातों प्रान्तभूमि-प्रज्ञा का साक्षात् अनुभव करने वाला पुरुष कुशल कहलाता है। प्रधानलयावस्था में भी गुणातीत होने के कारण चित्त के लय होने पर ही पुरुष मुक्तकुशल कहा जाता है।

'धारणा,' 'ध्यान' एवं 'समाधि' ये 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तरङ्ग हैं परन्तु 'निर्बीजसमाधि' के बहिरङ्ग हैं।

सत्कार्यवाद

कार्य-कारण-भाव—उपर्युक्त परिणामों के स्वरूप को देखकर सांख्य-योग में कार्य-कारणभाव का विचार आवश्यक हो जाता है। परिणाम में दो वस्तु होते हैं—एक धर्मी और दूसरा धर्म। इन दोनों में एक प्रकार से अभेद है अर्थात् सांख्य में भेद-सहिष्णु-अभेद है।

न्यायमत में 'कार्य' और 'कारण' में अत्यन्त भेद है। कारण में कार्य का अभाव रहता है। तथापि कारण के साथ कार्य का एक रहस्य-पूर्ण नित्य सम्बन्ध है जिसके कारण एक नियत कारण ही में एक नियत कार्य की उत्पत्ति होती है। अन्यत्र नहीं होता। यह नित्य सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है। इसे एक प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध कहते हैं। इसलिए इन दोनों में अभेदसहिष्णु-भेद है।

सांख्यमत में 'कार्य' और 'कारण' में अभेद है। कारण-व्यापार के पूर्व भी 'कार्य' अव्यक्तरूप में अपने कारण में रहता है। व्यापार के द्वारा 'कार्य' अभिव्यक्त होता है और लय की अवस्था में 'कारण'

1. योगसूत्रभाष्य, २।२७।

में पुनः 'कार्य' अव्यक्तरूप में लय हो जाता है। सांख्यमत में उत्पत्ति का अर्थ है आविर्भाव और नाश का अर्थ है तिरोभाव। इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं। सत् वस्तु का न तो नाश होता है और न असत् की उत्पत्ति ही होती है, जैसा कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः [१]।

सत्कार्य की सिद्धि—उपर्युक्त सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में पाँच युक्तियाँ दी हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥[२]

'असदकरणात्'—इह लोके असतः करणं नास्ति, यथा शशविषाणादीनाम्। यदेव सत् घटादि द्रव्यं तदेव मृत्पिण्डादिना कारणविशेषेण क्रियते, नासत्।

'उपादानग्रहणात्'—इह यदर्थी यदुपादीयते तस्य तदुपादानं कारणम्, यथा तैलस्य तिलाः, दध्नः क्षीरम्। अत्र तैलं दधि च यदि न स्यात् कथं तस्योपादानस्य ग्रहणं तदर्थिभिः क्रियते। तस्मादुपादानसंग्रहादेव सदेव कार्यम्। अन्यथा सिकतासलिलयोरपि ग्रहणं स्यात्।

'सर्वसम्भवाभावात्'—यद्यसत्कार्यं भवेत् तदा सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र सम्भवः स्यात्। न चैवम्। तस्मात् सदेव कार्यम्।

'शक्तस्य शक्यकरणात्' शक्तं कारणं नाशक्तमित्येवमप्यवगन्तव्यम्। अन्यथापहृतशक्तेः बीजाद् अङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गः। शक्तश्च को भवितुमर्हति ? यः शक्तिमान्। तस्य शक्तमतः शक्यस्य करणात्, शंकनीयस्य कार्यस्योत्पादनादित्यर्थः। एवं च

१. भगवद्गीता, २।१६।
२. सांख्यकारिका, ६।

तत् शकनीयं यदि कारणे शक्तिरूपेणावस्थितं स्यात्। तस्मात्सदेवोत्पद्यते नासत्।

'कारणभावाच्च'—कारणस्य सत्त्वादित्यर्थः। यद्यसत्कार्यमुत्पद्यते किमिति कारणभावेन कार्यस्य भावो भवति। भवति च। तस्मात् शक्तिरूपेणावस्थितमिति गम्यते।

अथवा 'कारणभावादिति' कारणस्वभावात्। यत्स्वभावं कारणं तत् स्वभावं कार्यम्। यथा स्निग्धस्वभावेभ्यः तिलेभ्यः स्निग्धमेव तैलम्, मृदो मृत्स्वभावो घटः। यद्यसत् कार्यं स्यात् असत्स्वभावेभ्यो ह्युत्पाद्येतेत्येवं सांख्यानां सदेवोत्पद्यत इति सिद्धान्तः[1]।

इस संसार में जो वस्तु है ही नहीं, उसकी उत्पत्ति नहीं की जाती। जैसे-खरहे का सींग। जो सत् है, जैसे घट आदि वस्तु, वही मृत्तिका आदि कारण के द्वारा उत्पन्न (अर्थात् आविर्भूत) की जाती है, असत् नहीं।

इस संसार में जिसे उत्पन्न करने के लिए जो वस्तु ली जाती है वही उसका उपादान कारण है। जैसे-तेल के लिए 'तिल', दही के लिए 'दूध'। यदि तिल में पहले ही से तेल, या दूध में पहले ही से दही न होता, तो किस प्रकार उसे चाहने वाले उसके उपादान (अर्थात् तिल या दूध) का ग्रहण करते। उपादान के ग्रहण करने ही से यह स्पष्ट होता है कि कारण-व्यापार के पूर्व भी (उपादान में अर्थात्) कारण में कार्य विद्यमान हैं, अन्यथा बालू या जल का भी (तेल उत्पन्न करने के लिए) ग्रहण होता। परन्तु ऐसा होता नहीं है।

यदि जिसका अभाव है, उससे कार्य उत्पन्न होता तो सर्वत्र अभाव होने की सम्भावना के कारण सभी का सर्वदा सब स्थानों में रहने की

1 जयमङ्गला टीका, सांख्यकारिका, ६।

भी सम्भावना होती, किन्तु ऐसा देख नहीं पड़ता। इसलिए यह स्पष्ट है कि कारण-व्यापार के पहले भी कारण में कार्य है।

शक्ति रहने पर ही कारण शक्त है, शक्त हुए विना कारण नहीं रहता, यह सदैव मन में रखना चाहिए, अन्यथा उस बीज से भी, जिसकी शक्ति नष्ट हो गई है, अङ्कुर की उत्पत्ति हो जायेगी। जिसमें शक्ति है, वही शक्तिमान् अर्थात् शक्त है। वही शक्तिमान् शक्य को अभिव्यक्त करता है। अर्थात् उसी शक्तिमान् से उत्पत्ति के योग्य कार्य की अभिव्यक्ति हो सकती है। अत एव उत्पत्ति के योग्य वस्तु ही शक्तिरूप में कारण में विद्यमान रहता है। इसलिए कारण में पहले भी कार्य विद्यमान है। अतः कारण में कार्य असत् नहीं हो सकता।

यदि कारण में कार्य के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति होती, तो कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण की आवश्यकता ही क्या थी? किन्तु कारण की आवश्यकता तो होती ही है। अत एव यह स्पष्ट है कि शक्तिरूप से कारण-व्यापार के पूर्व भी कारण में कार्य विद्यमान रहता है।

सत्कार्य के कारण ही जिस स्वभाव का कारण है, उसी स्वभाव का कार्य भी होता है। जैसे स्निग्ध स्वभाव के तिल से स्निग्ध स्वभाव का तेल निकलता है। यदि असत्कार्य होता तो असत् स्वभाव से ही वस्तु की अभिव्यक्ति होती। सांख्ययोग में सत्कार्यवाद का यही सिद्धान्त है।

मुक्ति-निरूपण

मुक्ति का स्वरूप—चेतन पुरुष स्वभाव से अनादि, त्रिगुणातीत, निस्संग, निर्लिप्त तथा नित्य है। अज्ञान भी अनादि, नित्य किन्तु त्रिगुणात्मक और जड़ है।

इन दोनों का संयोग भी अनादि है। पुरुष का बिम्ब प्रकृति पर और प्रकृति या बुद्धि का आरोप पुरुष पर अनादि काल से चला आया है।

अत एव पुरुष के चैतन्य को पाकर जड़ा बुद्धि भी चेतनवती के समान तथा बुद्धि का आरोप प्राप्त कर उदासीन एवं निर्लिप्त पुरुष भी कर्त्ता, भोक्ता तथा सुख, दुःख आदि से संयुक्त मालूम होने लगता है। 'पुरुष' और 'प्रकृति' के इसी कल्पित तथा आरोपित सम्बन्ध को 'बन्धन' कहते हैं और इसी कारण जीव दुःख को प्राप्त करता है। इसी बन्धन को दूर करना अर्थात् 'पुरुष' का अपने आपको जानना और प्रकृति के आरोप से मुक्त होना ही विवेक-बुद्धि या मुक्ति है।

इसी विवेक-बुद्धि को प्राप्त करने के लिए सृष्टि होती है और तभी तक लिङ्ग-शरीर का अस्तित्व रहता है। अत एव ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥
इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥[1]

सृष्टि करना प्रकृति का स्वभाव है। इसमें प्रकृति का स्वार्थ नहीं है, किन्तु दूसरे के लिए ही, स्वार्थ की तरह, लगन से, प्रकृति पुरुष को बन्धन से मुक्त करने के लिए सृष्टि करती है, नाना प्रकार के उपायों को रचती है। नट की तरह लिङ्ग-शरीर, अनेक स्थूल शरीरों को ग्रहण कर बद्धपुरुष को पूर्व-पूर्व कर्मों के फलों का भोग कराने में समर्थ होता है।

सूक्ष्मशरीर—यह 'लिङ्ग-शरीर', जिसे 'सूक्ष्म-शरीर' भी कहते हैं, महत्, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राओं से बनता है। सृष्टि के आदि में प्रत्येक जीव के लिए एक सूक्ष्म-शरीर उत्पन्न होता है। प्रत्येक स्थूल शरीर में एक सूक्ष्मशरीर रहता है, किन्तु वह किसी भी स्थूल-शरीर में आसक्त नहीं होता। मोक्षपर्यन्त यह 'जीव' के साथ रहता

1. सांख्यकारिका, ५५—५६।

है । इसमें बुद्धि के धर्म, अधर्म आदि आठों भाव रहते हैं । इसमें स्वतन्त्र रूप में भोग नहीं होता। जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र नहीं रहता, वृक्ष के बिना छाया नहीं रहती, उसी प्रकार स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्म या लिङ्ग-शरीर नहीं रहता। पुरुष के भोग को सम्पादन करने के लिए यह नट के समान विश्व में घूमता हुआ अनेक प्रकार के शरीर को धारण करता है । जैसा ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैस्तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गम् ॥
पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥[१]
इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥[२]

पुरुष स्वभावतः स्वयं निष्क्रिय तथा निर्विकार है। वस्तुतः वह न तो बद्ध होता है और न मुक्त होता है। वह तो कूटस्थ और नित्य है। अविद्या के प्रभाव से प्रकृति ही सब करती है। वही पुरुष पर उपराग सम्पादन करती है एवं पुरुष को कर्त्ता तथा भोक्ता भी बनाती है। पुनः प्रकृति ही के कर्म से पुरुष और प्रकृति में विवेक-बुद्धि उत्पन्न होती है तथा पुरुष मुक्त होकर अपने को प्रकृति से पृथक् समझने लगता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति के अन्यत्र विद्यमान रहने पर भी विवेकबुद्धि-प्राप्त पुरुष उससे प्रभावित नहीं होता। वह अपने को प्रकृति से सर्वथा भिन्न अब समझता है।

---

१ सांख्यकारिका, ४०-४२ ।
२ सांख्यकारिका, ५६ ।

पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ।[1]
तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥[2]

बुद्धि के धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, तथा अनैश्वर्य ये आठ धर्म हैं। उनमें से ज्ञान को छोड़कर अन्य सातों के द्वारा पुरुष बन्धन को प्राप्त होता है। किन्तु एकमात्र ज्ञान के द्वारा पुनः 'प्रकृति' पुरुष को मुक्त कर देती है। पुरुष को मुक्त कर देने में प्रकृति को वस्तुतः कोई भी स्वार्थ नहीं है। 'पुरुष मुक्त हो जाये' एकमात्र इसी इच्छा से 'प्रकृति' पुरुष के बिम्ब के प्रभाव से चेतन की तरह सृष्टि आदि करने में प्रवृत्त होती है। इसीलिए कहा है—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥[3]

इस प्रकार महद् आदि सभी तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर 'पुरुष' प्रकृति से अपने को पृथक् समझने लगता है। 'मैं प्रकृति से अभिन्न नहीं हूँ, न मेरा शरीर है और न मुझे दुःख है, अहंभाव भी मुझमें नहीं हैं,' इस प्रकार परिपूर्ण विशुद्ध केवल 'ज्ञान' पुरुष में उत्पन्न हो जाता है। प्रकृति के उपराग के हट जाने से उपराग के कारण जितनी भावनाएँ पुरुष में थीं वे सब अब नष्ट हो जाती हैं। अत एव इस पुरुष के प्रति प्रकृति का अब कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रह जाता। पुरुष भी अपने स्वरूप में स्थित होकर निरपेक्ष द्रष्टा के समान 'प्रकृति' को देखता है। जैसा कहा है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥[4]

---

१ सांख्यकारिका, ५६।
२ सांख्यकारिका, ६२।
३ सांख्यकारिका, ५८।
४. सांख्यकारिका, ६४।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥[1]

विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होने पर 'पुरुष' 'प्रकृति' को देखता है। यह इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि देखना तो सत्त्वगुण का स्वरूप है और शास्त्र का कहना है कि मुक्त होने पर भी पुरुष प्रकृति को देखता है। अर्थात् सत्त्वगुण से अर्थात् प्रकृति के साथ यत्किञ्चित् सम्बन्ध पुरुष को मुक्ति में भी रहता ही है अन्यथा मुक्तावस्था में भी किस प्रकार प्रकृति को पुरुष देख सकता है ? अत एव सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—

सात्त्विक्या तु बुद्ध्या तदाऽप्यस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथैवम्भूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेः ।[2]

इस प्रकार सांख्यमत में मुक्ति की दशा में भी प्रकृति के उपराग से सर्वथा मुक्त पुरुष नहीं है। सत्त्वगुण के रहने पर अन्य दो गुण भी किसी न किसी रूप में तिरोभूत होकर कहीं रहते ही हैं, क्योंकि ये पृथक् नहीं रह सकते। अतः मुक्तावस्था में रजस् और तमस् के अभिभूत रहने से दुःख का तिरोभाव तो रहता है, परन्तु मुक्तावस्था में भी सर्वदा के लिए सर्वथा दुःखनिवृत्ति सांख्य में किस प्रकार प्राप्त हो सकती है यह चिन्तनीय है। अतः वाचस्पतिमिश्र ने कहा भी है—

यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखं तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुम् ।[3]

दुःख की निवृत्ति असम्भव है—साथ ही साथ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सत् वस्तु का अभाव या विनाश नहीं हो सकता। दुःख सत् है, फिर इसका नाश कैसे हो

---

1. सांख्यकारिका, ६५ ।
2. सांख्यकारिका, ६५ ।
3. सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, १ ।

सकता है? इसलिए सांख्यसिद्धान्त के अनुसार मोक्ष में भी दुःख का तिरोभावमात्र होता है और सत्त्व का उदय होता है। यही सांख्यमत में मोक्ष का वास्तविक स्वरूप है।

मुक्ति की प्रक्रिया—इस परिस्थिति में तत्त्वज्ञान के प्राप्त होने पर धर्म आदि बुद्धि के सात रूपों की निवृत्ति हो जाती है, ज्ञान के प्रभाव से पूर्व जन्मों के अनागत कर्म दग्धबीजों की तरह फल देने में असमर्थ हो जाते हैं, और संचित एवं क्रियमाण कर्मों का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु प्रारब्ध कर्म के संस्कार तो रहते ही हैं। उनका नाश या तिरोभाव नहीं होता। भोग के द्वारा ही उनका क्षय अर्थात् तिरोभाव होता है। जैसा कहा गया है—**प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः**। अत एव जब तक प्रारब्ध रहेगा तब तक वर्तमान स्थूल-शरीर भी रहता ही है। किन्तु उससे कोई नवीन कार्य नहीं होता। कुम्भकार के चाक के समान घट बन जाने के अनन्तर भी वह चलता ही रहता है। पश्चात् प्रारब्ध कर्म के क्षय अर्थात् तिरोभाव हो जाने पर स्थूल शरीर गिर पड़ता है।

जीवन्मुक्ति—यह बीच की अवस्था जीवन्मुक्ति की अवस्था है। यही ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥[१]

यद्यपि सांख्यकारिकाकार का कहना है कि शरीर के पात होने पर ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है, किन्तु वस्तुतः मुक्ति में विवेकज्ञान के रूप में सत्त्वगुण के रहने पर दुःख का तिरोभावमात्र होना सांख्य की मुक्ति में कहा जा सकता है। अत एव योगभाष्य में कहा गया है—

---

१. सांख्यकारिका, ६७-६८।

चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वम् रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषयप्रियं भवति। ....तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते योगिनः। चितिशक्तिरपरिणामिनी......सत्त्वगुणात्मिका चेयम्। अतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति। स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किञ्चित् सम्प्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातः[1]।

धर्म-मेघ-समाधिः—प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः[2]।

यदायं प्रसंख्यानेऽपि अकुसीदः ततोऽपि न किञ्चित् प्रार्थयते, तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति। संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराणि उत्पद्यन्ते, तदा अस्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति।[3]

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।[4]

"तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति, कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति।[5]

ज्ञान (प्रख्या), प्रवृत्ति तथा स्थिति स्वरूप के होने के कारण चित्त त्रिगुणात्मक है। प्रख्यारूप चित्तसत्त्व रजस् और तमस् से युक्त रहता

1. योगभाष्य, १।२।
2. योगसूत्र, ४।२६।
3. योगभाष्य, ४।२६।
4. योगसूत्र, ४।३०।
5. योगभाष्य, ४।३०।

है। अत एव ऐश्वर्य के विषयों से उसे प्रेम रहता है।...वही चित्त-सत्त्व रजोगुण के मल से लेशमात्र भी संस्पृष्ट न रहने पर, 'पुरुष' अपने स्वरूप में स्थित होकर सत्त्व-पुरुष की विवेकख्याति को प्राप्त कर धर्म-मेघसमाधि में स्थित हो जाता है। इसी को ध्यानी लोग प्रसंख्यान अर्थात् पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार कहते हैं।.. चितिशक्ति अपरिणामिनी है।... ...और प्रकृति तो सत्त्वगुणात्मिका है। इससे विपरीत विवेकख्याति है। उस विवेकख्याति में भी जब साधक को विरक्ति उत्पन्न होती है,तब उस ख्याति अर्थात् विवेक-बुद्धि को भी वह पुरुष अवरुद्ध करना चाहता है। उस अवस्था में चित्त में केवल संस्कारमात्र रह जाता है। उसे ही निर्बीज-समाधि कहते हैं। उस अवस्था में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता। अत एव उसे असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं।

धर्ममेघ-समाधि का निरूपण करते हुए योगसूत्र एवं भाष्य में कहा गया है—

प्रसंख्यान—अर्थात् विवेकज्ञान में भी विरागयुक्त होने से सर्वथा 'विवेकख्याति' होती है। उससे पुनः धर्ममेघ समाधि होती है। अर्थात् विवेकख्याति हो जाने पर संस्कार-बीज का क्षय हो जाता है और उसके बाद चित्त में कोई भी प्रत्यय उत्पन्न नहीं होता। तब धर्ममेघ समाधि होती है।

उसके बाद क्लेश और कर्म की निवृत्ति होती है। अर्थात् धर्ममेघ समाधि के प्राप्त होने से संस्कारों के सहित अविद्या आदि पाँच क्लेश नष्ट हो जाते हैं एवं पुण्य तथा अपुण्य सभी कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। क्लेश और कर्म के नाश होने पर विद्वान् जीवित अवस्था में भी विमुक्त हो जाता है। इसे ही जीवन्मुक्त कहते हैं। इस प्रकार सांख्य में वस्तुतः सत्त्व की चरम निवृत्ति नहीं होती। योग में उस प्रख्याशील चित्तसत्त्व से भी विरक्त होकर समाधि के द्वारा क्लेश और कर्मों

का समूल नाश होने पर पुरुष को गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। इसे ही कैवल्य कहते हैं। इस अवस्था में चितिशक्ति या पुरुष स्वच्छ, ज्योतिर्मय अपने स्वरूप में केवली होकर प्रतिष्ठित हो जाता है। यही योग की मुक्ति है।

यही बात पतञ्जलि ने कहा है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।[1]

अर्थात् विवेकज्ञान प्राप्त होने पर बुद्धि-सत्त्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एवं सादृश्य है, उसे ही कैवल्य कहते हैं।

सांख्य-योग-दर्शन के प्रमाणभूत मुख्य आचार्य तथा ग्रन्थों की सूची

सांख्यदर्शन

ग्रन्थ—कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषद्। महाभारत (भगवद्-गीता), देवीभागवत, श्रीमद्भागवत, विष्णु, पद्म, स्कन्द आदि महापुराण। षष्टितन्त्र, राजवार्त्तिक, आत्रेयतन्त्र एवं तत्त्वसमास।

आचार्य—कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, विन्ध्यवास, वार्षगण्य, जैगीषव्य, वोढ़ु, भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल, गर्ग, गौतम, जनक, पराशर आदि।

ईश्वरकृष्ण (१५० ईसा से पूर्व)—सांख्यकारिका। इसके टीकाकार—माठर (१०० ईसा से पूर्व)—वृत्ति। गौडपाद (७वीं सदी)—भाष्य। शङ्कराचार्य (६वीं सदी)—जयमङ्गला। वृद्ध वाचस्पति-मिश्र (१०वीं सदी)—तत्त्वकौमुदी। नारायणतीर्थ (१७वीं सदी) —चन्द्रिका। अज्ञात आचार्यकृत—युक्तिदीपिका।

---

1. योगसूत्र, ३।५५।

विज्ञानभिक्षु (१६वीं सदी)—सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचन-भाष्य। अनिरुद्ध (१७वीं सदी)—वृत्ति। महादेव (१८वीं सदी)—सांख्यवृत्तिसार। हरिहरारण्य (२०वीं सदी)—सरलसांख्य।

A B. Keith—Sankhya system.

J. N. Mukerji—Sankhya or the theory of Reality.

Majumdar—Sankhya conception of Personality.

योगदर्शन

पतञ्जलि (१५० ईसा के पूर्व)—योगसूत्र। इसके टीकाकार—व्यास (दूसरी या तीसरी सदी)—भाष्य। वृद्ध वाचस्पतिमिश्र (१०वीं सदी)—तत्त्ववैशारदी। विज्ञानभिक्षु (१६वीं सदी)—वार्त्तिक तथा योगसारसंग्रह। राघवानन्दसरस्वती (१८वीं सदी)-पातञ्जलरहस्य। भोज—वृत्ति (राजमार्तण्ड)। भावागणेश—वृत्ति। रामानन्दयति—मणिप्रभा। अनन्तपण्डित—योगचन्द्रिका। सदाशिवेन्द्रसरस्वती—योगसुधाकर। नागेशभट्ट—लघ्वी तथा बृहती वृत्तियाँ। गोपीनाथकविराज—Sankhya—Yoga Theory of Causality (Saraswati Bhavana Studies, Vol. IV). हरिहरारण्य—भास्वती (संस्कृत तथा बंगानुवाद)।

S. N. Dasgupta—Study of Patanjali and History of India Philosophy.

S. Radhakrishnan—Indian Philosophy, Vol II.

Hiriyanna—Indian Philosphy.

Umesha Mishra—भारतीयदर्शन, सांख्ययोगदर्शन and History of Indian Philosophy, Vol. II.

विशिष्ट ग्रन्थों की नवीन सूची

Price.

1 History of Indian Philosophy (Vol. I)
By Mm. Dr. Umesha Mishra ... Rs. 35·00

2 History of Maithili Literature (2 Vols.)
By Dr. Jayakanta Mishra ... Rs. 22·50

3 Conception of Matter according to Nyaya-Vaiseshika Philosophy
By Mm. Dr. Umesha Mishra ... Rs. 16·00

4 The Folk Literature of Mithila (2 parts)
By Dr. Jayakanta Mishra ... Rs. 12·00

5. भारतीयदर्शन (प्रामाणिक ग्रन्थ)
ले०—म० म० डा० श्रीउमेशमिश्र रु० 8.00

6. व्युत्पत्तिवाद (जया संस्कृत टीका सहित)
ले०—म० म० पं० जयदेवमिश्र, काशी रु० 3.00

7. कीर्त्तिलता (विद्यापतिकृत मैथिलीकाव्य)
प्रथम प्रामाणिक संस्करण—सं० डा० श्रीउमेशमिश्र रु० 3.50

8. कीर्त्तिपताका (विद्याकृत मैथिली काव्य)
प्रथम प्रामाणिक संस्करण—सं० डा० श्रीउमेशमिश्र रु० 2.25

9. विद्यापतिठाकुर (प्रामाणिक आलोचनात्मक ग्रन्थ)
लेखक—म० म० डा० श्रीउमेशमिश्र .... रु० 1.75

10. बटुक (सचित्र बाल-मासिकपत्र की ५ वर्षों की फाइल) रु० 25.00

11. चित्रा (आधुनिक मैथिली कविताये)-ले० श्री'यात्री' रु० 2.00

12. कृष्णजन्म (मनबोधरचित) सं० डा० श्रीउमेशमिश्र रु० 1.00

13. A critical study of the Bhagawadgita
By Mm.Dr. Umesha Mishra ... Rs. 4·00

14. Nimbarka school of Vedanta
By Mm. Dr. Umesha Mishra ... Rs 4·00

15. भारतीयदर्शन की रूपरेखा
लेखक—म० म० डा० श्रीउमेशमिश्र रु० 1.50

16. भारतीय तर्कशास्त्र की रूपरेखा
लेखक—म० म० डा० श्रीउमेशमिश्र रु० 1.00

17 The Metaphysical style in 17th century English Literature
By Dr. Jayakanta Mishra ... Rs. 3·00

18. परिभाषेन्दुशेखर (विजया संस्कृतटीका सहित)
लेखक—म० म० पं० जयदेवमिश्र, काशी......रु० 5.50

19. शास्त्रार्थरत्नावली (व्याकरण की दार्शनिक संस्कृत विवेचना)
लेखक—म० म० पं० जयदेवमिश्र, काशी......रु० 1.50

20. रेखाचित्र (आधुनिक मैथिली कथायें)
लेखक—प्रो० श्रीउमानाथझा रु० 2.00

21. सांख्य-योग-दर्शन (प्रामाणिक ग्रन्थ)
लेखक—म० म० डा० श्रीउमेशमिश्र रु० 4.00

प्राप्तिस्थान

तीरभुक्ति प्रकाशन

१, सर पी० सी० बनर्जी रोड, इलाहाबाद—२

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.